

जैन कर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण

कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

कर्मसिद्धान्त का उद्भव सृष्टि-वैचित्र्य, वैयक्तिक-भिन्नताओं, व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों एवं शुभाशुभ मनोवृत्तियों के कारण की व्याख्या के प्रयासों में ही हुआ है। सृष्टि-वैचित्र्य एवं वैयक्तिक भिन्नताओं के कारण की खोज के इन प्रयासों से विभिन्न विचारधारयें अस्तित्व में आयीं। श्वेताश्वतरोपनिषद्, अंगुत्तरनिकाय और सूत्रकृतांग में हमें इन विभिन्न विचारधारयों की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में इन विचारधारयों की समीक्षा भी की गई है। इस सम्बन्ध में प्रमुख मान्यताएँ निम्न हैं--

१. **कालवाद**--यह सिद्धान्त सृष्टि-वैविध्य और वैयक्तिक-विभिन्नताओं का कारण काल को स्वीकार करता है। जिसका जो समय या काल होता है तभी वह घटित होता है, जैसे--अपनी ऋतु (समय) आने पर ही वृक्ष में फल लगते हैं।
२. **स्वभाववाद**--संसार में जो भी घटित होगा या होता है, उसका आधार वस्तुओं का अपना-अपना स्वभाव है। संसार में कोई भी स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकता है।
३. **नियतिवाद**--संसार का समय घटना-क्रम पूर्व नियत है, जो जिस रूप में होना होता है वैसा ही होता है, उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता।
४. **यदृच्छावाद**--किसी भी घटना का कोई नियत हेतु या कारण नहीं होता है। समस्त घटनाएँ मात्र संयोग का परिणाम हैं। यदृच्छावाद हेतु के स्थान पर संयोग (Chance) को प्रमुख बना देता है।
५. **महाभूतवाद**--समग्र अस्तित्व के मूल में पंचमहाभूतों की सत्ता रही है। संसार उनके वैविध्यमय विभिन्न संयोगों का ही परिणाम है।
६. **प्रकृतिवाद**--विश्व-वैविध्य त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही खेल है। मानवीय सुख-दुःख भी प्रकृति के ही अधीन है।
७. **ईश्वरवाद**--ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता एवं नियामक है, जो कुछ भी होता है, वह सब उसकी इच्छा या क्रियाशक्ति का परिणाम है।
८. **पुरुषवाद**--वैयक्तिक विभिन्नता और सांसारिक घटना-क्रम के मूल में पुरुष का पुरुषार्थ ही प्रमुख है।

वस्तुतः जगत्-वैविध्य और वैयक्तिक भिन्नताओं की तार्किक व्याख्या के इन्हीं प्रयत्नों में कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ है^१ जिसमें पुरुषवाद की प्रमुख भूमिका रही है। कर्मसिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्तों का पुरुषवाद के साथ समन्वय का प्रयत्न है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया गया है कि हम किसके द्वारा प्रेरित होकर संसार-यात्रा का अनुवर्तन कर रहे हैं। आगे ऋषि यह जिज्ञासा प्रकट करता है कि क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत-योनि अथवा पुरुष या इन सबका संयोग ही

इसका कारण है^२। वस्तुतः इन सभी विचारधारयों में पुरुषवाद को छोड़कर शेष सभी विश्व-वैचित्र्य और वैयक्तिक-वैविध्य की व्याख्या के लिए किसी न किसी बाह्य-तथ्य पर ही बल दे रही थीं। हम इनमें से किसी भी सिद्धान्त को मानें, वैविध्य का कारण व्यक्ति से भिन्न ही मानना होगा, किन्तु ऐसी स्थिति में व्यक्ति पर नैतिक दायित्व का आरोपण सम्भव नहीं हो पाता है। यदि हम जो कुछ भी करते हैं और जो कुछ भी पाते हैं, उसका कारण बाह्य तथ्य ही है, तो फिर हम किसी भी कार्य के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराये नहीं जा सकते। यदि व्यक्ति काल, स्वभाव, नियति अथवा ईश्वर की इच्छाओं का एक साधन मात्र है, तो वह उस कठपुतली के समान है, जो दूसरे के इशारों पर ही कार्य करती है। किन्तु ऐसी स्थिति में पुरुष में इच्छा-स्वातन्त्र्य का अभाव मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या उठती है। सामान्य मनुष्य को नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को उसके शुभाशुभ कर्मों के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सके और यह तभी सम्भव है जब उसके मन में विश्वास हो कि उसे उसकी स्वतन्त्र इच्छा से किये गये अपने ही कर्मों का परिणाम प्राप्त होता है। यही कर्मसिद्धान्त है। ज्ञातव्य है कि कर्मसिद्धान्त ईश्वरीय कृपा या अनुग्रह के विरोध में जाता है, वह यह मानता है कि ईश्वर भी कर्मफल-व्यवस्था को अन्यथा नहीं कर सकता है। कर्म का नियम ही सर्वोपरि है।

कर्मसिद्धान्त और कार्यकारण का नियम

आचार के क्षेत्र में इस कर्मसिद्धान्त की उतनी ही आवश्यकता है जितनी विज्ञान के क्षेत्र में कार्य-कारण-सिद्धान्त की। जिस प्रकार कार्यकारण-सिद्धान्त के अभाव में वैज्ञानिक व्याख्यायें असम्भव होती हैं, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त के अभाव में नीतिशास्त्र भी अर्थ-शून्य हो जाता है।

प्रो० वेंकटरमण के शब्दों में कर्मसिद्धान्त कार्यकारण-सिद्धान्त के नियमों एवं मान्यताओं का मानवीय आचार के क्षेत्र में प्रयोग है, जिसकी उपकल्पना यह है कि जगत् में सभी कुछ किसी नियम के अधीन है^३। मैक्समूलर लिखते हैं कि यह विश्वास कि कोई भी अच्छा बुरा कर्म बिना फल दिए समाप्त नहीं होता, नैतिक जगत् का वैसा ही विश्वास है, जैसा भौतिक जगत् में ऊर्जा की अविनाशिता का नियम है^४। यद्यपि कर्मसिद्धान्त एवं वैज्ञानिक कार्यकारण-सिद्धान्त में सामान्य रूप से समानता प्रतीत होती है किन्तु उनमें एक मौलिक अन्तर भी है। यह कि जहाँ कार्य-कारण सिद्धान्त का विवेच्य जड़ तत्व के क्रिया-कलाप हैं वहीं कर्म-सिद्धान्त का विवेच्य चेतना सत्ता के क्रिया-कलाप हैं। अतः कर्मसिद्धान्त में वैसी पूर्ण नियतता नहीं होती, जैसी कार्यकारण सिद्धान्त में होती है। यह नियतता एवं स्वतंत्रता का समुचित संयोग है।

कर्मसिद्धान्त की मौलिक स्वीकृति यही है कि प्रत्येक शुभाशुभ क्रिया का कोई प्रभाव या परिणाम अवश्य होता है। साथ ही उस कर्म-विपाक या परिणाम का भोक्ता वही होता है, जो क्रिया का कर्ता होता है और कर्म एवं विपाक की यह परम्परा अनादि काल से चल रही है।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता

कर्मसिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि वह न केवल हमें नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाता है, अपितु वह हमारे सुख-दुःख आदि का स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोजकर ईश्वर एवं प्रतिवेशी अर्थात् अन्य व्यक्तियों के प्रति कटुता का निवारण करता है। कर्मसिद्धान्त की स्थापना का प्रयोजन यही है कि नैतिक कृत्यों के अनिवार्य फल के आधार पर उनके प्रेरक कारणों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या की जा सके, तथा व्यक्तियों को अशुभ या दुष्कर्मों से विमुख किया जा सके।

जैन कर्मसिद्धान्त और अन्य दर्शन

ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों में उपस्थित ऋत का सिद्धान्त कर्म-नियम का आदि स्रोत है। यद्यपि उपनिषदों के पूर्व के वैदिक साहित्य में कर्म सिद्धान्त का कोई सुस्पष्ट विवेचन नहीं मिलता, फिर भी उसमें उपस्थित ऋत के नियम की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है। पं० दलसुख मालवणिया के शब्दों में कर्म (जगत् वैचित्र्य का) कारण है, ऐसा वाद उपनिषदों का सर्व-सम्मतवाद हो, नहीं कहा जा सकता। भारतीय चिन्तन में कर्म सिद्धान्त का विकास जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में हुआ है। यद्यपि यह एक भिन्न बात है कि जैनों ने कर्मसिद्धान्त का जो गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया वह अन्य परम्पराओं में उपलब्ध नहीं है^५। वैदिकों के लिए जो महत्त्व ऋत का, मीमांसकों के लिए अपूर्व का, नैयायिकों के लिए अदृष्ट का, वैदान्तियों के लिए माया का और सांख्यों के लिए प्रकृति का है, वही जैनों के लिए कर्म का है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से देखने पर वेदों का ऋत, मीमांसकों का अपूर्व, नैयायिकों का अदृष्ट, अद्वैतियों की माया, सांख्यों की प्रकृति एवं बौद्धों की अविद्या या संस्कार पर्यायवाची से लगते हैं, क्योंकि व्यक्ति के बन्धन एवं उसके सुख-दुःख की स्थितियों में इनकी मुख्य भूमिका है, फिर भी इनके स्वरूप में दार्शनिक दृष्टि से अन्तर भी है, यह बात हमें दृष्टिगत रखनी होगी। ईसाईधर्म और इस्लामधर्म में भी कर्म-नियम को स्थान मिला है। फिर भी ईश्वरीय अनुग्रह पर अधिक बल देने के कारण उनमें कर्म-नियम के प्रति आस्था के स्थान पर ईश्वर के प्रति विश्वास ही प्रमुख रहा है। ईश्वर की अवधारणा के अभाव के कारण भारत की श्रमण परम्परा कर्मसिद्धान्त के प्रति अधिक आस्थावान रही, बौद्ध-दर्शन में भी जैनों के समान ही कर्म-नियम को सर्वोपरि माना गया। हिन्दूधर्म में भी ईश्वरीय व्यवस्था को कर्म-नियम के अधीन लाया गया, उसमें ईश्वर कर्म-नियम का व्यवस्थापक होकर भी उसके अधीन ही कार्य करता है।

जैन कर्मसिद्धान्त का विकास क्रम

जैन कर्मसिद्धान्त का विकास किस क्रम में हुआ, इस प्रश्न का समाधान उतना सरल नहीं है, जितना कि हम समझते हैं। सामान्य विश्वास तो यह है कि जैन धर्म की तरह यह भी अनादि है, किन्तु विद्वत्-वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता है। यदि जैन कर्मसिद्धान्त के विकास का कोई समाधान देना हो तो, वह जैन आगम एवं कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों के कालक्रम के आधार पर ही दिया जा सकता है, इसके अतिरिक्त अन्य विकल्प नहीं है। जैन आगमसाहित्य में आचारांग प्राचीनतम है। इस ग्रन्थ में जैन कर्मसिद्धान्त का चाहे विकसित स्वरूप उपलब्ध न हो, किन्तु उसकी मूलभूत अवधारणाएँ अवश्य उपस्थित हैं। कर्म से उपाधि या बन्धन होता है, कर्म रज है, कर्म का आखव होता है, साधक को कर्मशरीर को धुन डालना चाहिए आदि विचार उसमें परिलक्षित होते हैं। इससे यह फलित होता है कि आचारांग के काल में कर्म को स्पष्ट रूप से बन्धन का कारण माना जाता था और कर्म के भौतिक पक्ष की स्वीकृति के साथ यह भी माना जाता था कि कर्म की निर्जरा की जा सकती है। साथ ही आचारांग में शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ विपाक होता है, यह अवधारणा भी उपस्थित है। उसके अनुसार बन्धन का मूल कारण ममत्व है। बन्धन से मुक्ति का उपाय ममत्व का विसर्जन और समत्व का सर्जन है^६।

सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी आचारांग से किंचित ही परवर्ती माना जाता है। सूत्रकृतांग के काल में यह प्रश्न बहुचर्चित था, कि कर्म का फल संविभाग सम्भव है या नहीं? इसमें स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि व्यक्ति अपने स्वकृत कर्मों का ही विपाक अनुभव करता है। बन्धन के सम्बन्ध में सूत्रकृतांग (१/८/२) स्पष्ट रूप से कहता है कि कुछ व्यक्ति कर्म को और कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कर्म के सन्दर्भ में यह विचार लोगों के मन में उत्पन्न हो गया था, कि यदि कर्म ही बन्धन है तो फिर अकर्म अर्थात् निष्क्रियता ही बन्धन से बचने का उपाय होगा, किन्तु सूत्रकृतांग के अनुसार अकर्म का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। इसमें प्रतिपादित है कि प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है (१/८/३)। वस्तुतः किसी क्रिया की बन्धकता उसके क्रिया-रूप होने पर नहीं, अपितु उसके पीछे रही प्रमत्तता या अप्रमत्तता पर निर्भर है। यहाँ प्रमाद का अर्थ है आत्मचेतना (Self-awareness) का अभाव। जिस आत्मा का विवेक जागृत नहीं है और जो कषाययुक्त है, वही परिसुप्त या प्रमत्त है और जिसका विवेक जागृत है और जो वासना-मुक्त है वही अप्रमत्त है। सूत्रकृतांग (२/२/१) में ही हमें क्रियाओं के दो रूपों की चर्चा भी मिलती है- १. साम्प्रायिक और २. ईर्यापथिक^७। राग, द्वेष, क्रोध आदि कषायों से युक्त क्रियायें साम्प्रायिक कही जाती हैं, जबकि इनसे रहित क्रियायें ईर्यापथिक कही जाती हैं। साम्प्रायिक क्रियायें बन्धक होती हैं, जबकि ईर्यापथिक बन्धनकारक नहीं होतीं। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूत्रकृतांग में कौन सा कर्म बन्धन का कारण होगा

और कौन सा कर्म बन्धन का कारण नहीं होगा, इसकी एक कसौटी प्रस्तुत कर दी गई है। आचारांग में प्रतिपादित ममत्व की अपेक्षा इसमें प्रमत्तता और कषाय को बन्धन का प्रमुख कारण माना गया है।

यदि हम बन्धन के कारणों का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करें, तो यह पाते हैं कि प्रारम्भ में ममत्व (मेरेपन) को बन्धन का कारण माना गया, फिर आत्मविस्मृति या प्रमाद को। जब प्रमाद की व्याख्या का प्रश्न आया, तो स्पष्ट किया गया कि राग-द्वेष की उपस्थिति ही प्रमाद है। अतः राग-द्वेष को बन्धन का कारण बताया गया है^{१८}। इनमें मोह मिथ्यात्व और कषाय का संयुक्त रूप है। प्रमाद के साथ इनमें अविरति एवं योग के जुड़ने पर जैन परम्परा में बन्धन के ५ कारण माने जाने लगे^{१९}। समयसार आदि में प्रमाद को कषाय का ही एक रूप मानकर बन्धन के चार कारणों का उल्लेख मिलता है^{२०}। इनमें योग बन्धनकारक होते हुए भी वस्तुतः जब तक कषाय के साथ युक्त नहीं होता है, बन्धन का कारण नहीं बनता है। अतः प्राचीन ग्रन्थों में बन्धन के कारणों की चर्चा में मुख्य रूप से राग-द्वेष (कषाय) एवं मोह (मिथ्यादृष्टि) की ही चर्चा हुई है।

जैन कर्मसिद्धान्त के इतिहास की दृष्टि से कर्मप्रकृतियों का विवेचन भी महत्वपूर्ण माना जाता है। कर्म की अष्ट मूलप्रकृतियों का सर्व प्रथम निर्देश हमें ऋषिभाषित के पार्श्व नामक अध्ययन में उपलब्ध होता है^{२१}। इसमें ८ प्रकार की कर्मग्रन्थियों का उल्लेख है। यद्यपि वहाँ इनके नामों की कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। ८ प्रकार की कर्मप्रकृतियों के नामों का स्पष्ट उल्लेख हमें उत्तराध्ययन के ३३वें अध्याय में और स्थानांग में मिलता है।^{२२} स्थानांग की अपेक्षा भी उत्तराध्ययन में यह वर्णन विस्तृत है, क्योंकि इसमें अवान्तर कर्म प्रकृतियों की चर्चा भी हुई है। इसमें ज्ञानावरण कर्म की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २ एवं २८, नामकर्म की २ एवं अनेक, आयुष्यकर्म की ४, गोत्रकर्म की २ और अन्तराय कर्म की ५ अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख मिलता है^{२३}। आगे जो कर्मसाहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ निर्मित हुए उनमें नामकर्म की प्रकृतियों की संख्या में और भी वृद्धि हुई, साथ ही उनमें आत्मा में किस अवस्था में कितनी कर्मप्रकृतियों का उदय, सत्ता, बन्ध आदि होते हैं, इसकी भी चर्चा हुई। वस्तुतः जैन कर्मसिद्धान्त ई.पू. आठवीं शती से लेकर ईस्वी सन् की सातवीं शती तक लगभग पन्द्रह सौ वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्यवस्थित होता रहा है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि कर्मसिद्धान्त का जितना गहन विश्लेषण जैन परम्परा के कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य में हुआ, उतना अन्यत्र किसी भी परम्परा में नहीं हुआ है।

‘कर्म’ शब्द का अर्थ

जब हम जैन कर्मसिद्धान्त की बात करते हैं, तो हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उसमें ‘कर्म’ शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वह अर्थ कर्म के उस सामान्य अर्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक है। सामान्यतया कोई भी क्रिया कर्म कहलाती है,

प्रत्येक हलचल चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो या शारीरिक हो, कर्म है। किन्तु जैन परम्परा में जब हम ‘कर्म’ शब्द का प्रयोग करते हैं, तो वहाँ ये क्रियाएँ तभी कर्म बनती हैं, जब ये बन्धन का कारण हों। मीमांसादर्शन में कर्म का तात्पर्य यज्ञ-याग आदि क्रियाओं से लिया जाता है। गीता आदि में कर्म का अर्थ अपने वर्णाश्रम के अनुसार किये जाने वाले कर्मों से लिया गया है। यद्यपि गीता एक व्यापक अर्थ में भी कर्म शब्द का प्रयोग करती है। उसके अनुसार मनुष्य जो भी करता है या करने का आग्रह रखता है, वे सभी प्रवृत्तियाँ कर्म की श्रेणी में आती हैं। बौद्धदर्शन में चेतना को ही कर्म कहा गया है। बुद्ध कहते हैं कि --“भिक्षुओं कर्म, चेतना ही है”, ऐसा मैं इसलिए कहता हूँ कि चेतना के द्वारा ही व्यक्ति कर्म को करता है, काया से, मन से या वाणी से^{२४}। इस प्रकार बौद्धदर्शन में कर्म के समुत्थान या कारक को ही ‘कर्म’ कहा गया है। बौद्धदर्शन में आगे चलकर चेतना कर्म और चेतयित्वा कर्म की चर्चा हुई है। चेतना कर्म मानसिक कर्म है, चेतयित्वा कर्म वाचिक एवं कायिक कर्म है^{२५}। किन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि जैन कर्मसिद्धान्त में कर्म शब्द अधिक व्यापक अर्थ में गृहीत हुआ है। उसमें मात्र क्रिया को ही कर्म नहीं कहा गया, अपितु उसके हेतु (कारण) को भी कर्म कहा गया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि लिखते हैं--जीव की क्रिया का हेतु ही कर्म है^{२६}। किन्तु हम मात्र हेतु को भी कर्म नहीं कह सकते हैं। हेतु, उससे निष्पन्न क्रिया और उस क्रिया का परिणाम, सभी मिलकर जैन दर्शन में कर्म की परिभाषा को स्पष्ट करते हैं। पं० सुखलाल जी संघवी लिखते हैं कि-- मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है कर्म कहलाता है। मेरी दृष्टि से इसके साथ ही साथ कर्म में उस क्रिया के विपाक को भी सम्मिलित करना होगा। इस प्रकार कर्म के हेतु, क्रिया और क्रिया-विपाक, सभी मिलकर कर्म कहलाते हैं। जैन दार्शनिकों ने कर्म के दो पक्ष माने हैं--१. राग-द्वेष एवं कषाय-- ये सभी मनोभाव, भाव कर्म कहे जाते हैं। २. कर्म-पुद्गल द्रव्यकर्म कहे जाते हैं। ये भावकर्म के परिणाम होते हैं, साथ ही मनोजन्यकर्म की उत्पत्ति का निमित्त कारण भी होते हैं। यह भी स्मरण रखना होगा कि ये कर्म हेतु (भावकर्म) और कर्मपरिणाम (द्रव्यकर्म) भी परस्पर कार्य-कारण भाव रखते हैं।

सभी आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है, जो आत्मा या चेतना की शुद्धता को प्रभावित करती है। उसे वेदान्त में माया, सांख्य में प्रकृति, न्यायदर्शन में अदृष्ट एवं मीमांसा में अपूर्व कहा गया है। बौद्धदर्शन में उसे ही अविद्या और संस्कार (वासना) के नाम से जाना जाता है। योगदर्शन इसी आत्मा की विशुद्धता को प्रभावित करने वाली शक्ति को कर्म कहता है। जैन दर्शन में कर्म के निमित्त कारणों के रूप में कर्म पुद्गल को भी स्वीकार किया गया है, जबकि इसके उपादान के रूप में आत्मा को ही माना गया है। आत्मा के बन्धन में कर्म पुद्गल निमित्त कारण है और स्वयं आत्मा उपादान कारण होता है।

कर्म का भौतिक स्वरूप

जैनदर्शन में कर्म चेतना से उत्पन्न क्रिया मात्र नहीं है, अपितु यह स्वतन्त्र तत्त्व भी है। आत्मा के बन्धन का कारण क्या है? जब यह प्रश्न जैन दार्शनिकों के समक्ष आया तो उन्होंने बताया कि आत्मा के बन्धन का कारण केवल आत्मा नहीं हो सकती। वस्तुतः कषाय (राग-द्वेष) अथवा मोह (मिथ्यात्व) आदि जो बन्धक मनोवृत्तियाँ हैं, वे भी स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकतीं, जब तक कि वे पूर्वबद्ध कर्मवर्गणाओं के विपाक (संस्कार) के रूप में चेतना के समक्ष उपस्थित नहीं होती है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शरीर-रसायनों के परिवर्तन से संवेग (मनोभाव) उत्पन्न होते हैं और उन संवेगों के कारण ही शरीर-रसायनों में परिवर्तन होता है। यही स्थिति आत्मा की भी है। पूर्व कर्मों के कारण आत्मा में राग-द्वेष आदि मनोभाव उत्पन्न (उदित) होते हैं और इन उदय में आये मनोभावों के क्रियारूप परिणित होने पर आत्मा नवीन कर्मों का संचय करता है। बन्धन की दृष्टि से कर्मवर्गणाओं के कारण मनोभाव उत्पन्न होते हैं और उन मनोभावों के कारण जड़ कर्मवर्गणाएँ कर्म का स्वरूप ग्रहण कर आत्मा को बन्धन में डालती हैं। जैन विचारकों के अनुसार एकान्त रूप से न तो आत्मा स्वतः ही बन्धन का कारण है, न कर्मवर्गणा के पुद्गल ही। दोनों निमित्त एवं उपादान के रूप में एक दूसरे से संयुक्त होकर ही बन्धन की प्रक्रिया को जन्म देते हैं।

द्रव्यकर्म और भावकर्म

कर्मवर्गणाएँ या कर्म का भौतिक पक्ष, द्रव्यकर्म कहलाता है। जबकि कर्म की चैतसिक अवस्थाएँ अर्थात् मनोवृत्तियाँ, भावकर्म है। आत्मा के मनोभाव या चेतना की विविध विकारित अवस्थाएँ भावकर्म हैं और ये मनोभाव जिस निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह पुद्गल-द्रव्य द्रव्यकर्म हैं। आचार्य नेमिचन्द्र गोम्पटसार में लिखते हैं कि पुद्गल द्रव्यकर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति भावकर्म है^{१७}। आत्मा में जो मिथ्यात्व और कषाय अथवा राग-द्वेष आदि भाव हैं, वे ही भाव कर्म हैं, और उनकी उपस्थिति में कर्मवर्गणा के जो पुद्गल परमाणु ज्ञानावरण आदि कर्मप्रकृतियों के रूप में परिणत होते हैं, वे ही द्रव्यकर्म हैं। द्रव्यकर्म का कारण भावकर्म है और भावकर्म का कारण द्रव्य कर्म है। आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री में द्रव्यकर्म को आवरण व भावकर्म को दोष कहा है। चूंकि द्रव्यकर्म आत्मशक्ति के प्रकटन को रोकता है, इसलिए वह आवरण है और भाव कर्म स्वयं आत्मा की विभाव अवस्था है, अतः वह दोष है^{१८}। कर्मवर्गणा के पुद्गल तब तक कर्म रूप में परिणित नहीं होते हैं, जब तक ये भावकर्मों द्वारा प्रेरित नहीं होते हैं। किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि आत्मा में जो विभावदशाएँ हैं, उनके निमित्त कारण के रूप में द्रव्यकर्म भी अपना कार्य करते हैं। यह सत्य है कि दूषित मनोविकारों का जन्म आत्मा में ही होता है, किन्तु उसके निमित्त (परिवेश) के रूप में कर्मवर्गणाएँ अपनी भूमिका का अवश्य निर्वाह करती हैं। जिस प्रकार

हमारे स्वभाव में परिवर्तन का कारण हमारे जैव-रसायनों एवं रक्त-रसायनों का परिवर्तन है। उसी प्रकार कर्मवर्गणाएँ हमारे मनोविकारों के सृजन में निमित्त कारण होती हैं। पुनः जिस प्रकार हमारे मनोभावों के आधार पर हमारे जैव-रसायन एवं रक्त-रसायन में परिवर्तन होता है, वैसे ही आत्मा में विकारी भावों के कारण जड़ कर्मवर्गणा के पुद्गल कर्म रूप में परिणित हो जाते हैं। अतः द्रव्यकर्म और भावकर्म भी परस्पर सापेक्ष हैं। पं० सुखलाल जी लिखते हैं भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म के होने में भावकर्म निमित्त है^{१९}। दोनों आपस में बीजांकुर की तरह सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है, उनमें किसी को पूर्वापर नहीं कहा जा सकता है, वैसे इनमें भी किसी की पूर्वापरता का निश्चय नहीं हो सकता है। प्रत्येक द्रव्यकर्म की अपेक्षा से भावकर्म पूर्व होगा तथा प्रत्येक भावकर्म की अपेक्षा से द्रव्यकर्म पूर्व होगा।

द्रव्यकर्म एवं भावकर्म की इस अवधारणा के आधार पर जैन-कर्मसिद्धान्त अधिक युक्तिसंगत बन गया है। जैन कर्मसिद्धान्त कर्म के भावात्मक पक्ष पर समुचित बल देते हुए भी जड़ और चेतन के मध्य एक वास्तविक सम्बन्ध बनाने का प्रयास करता है। कर्म जड़-जगत् एवं चेतना के मध्य एक योजक कड़ी है। जहाँ एक ओर सांख्य-योग दर्शन के अनुसार कर्म-पूर्णतः जड़ प्रकृति से सम्बन्धित है, अतः उनके अनुसार वह प्रकृति ही है, जो बन्धन में आती है और मुक्त होती है, वहीं दूसरी ओर बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म संस्कार रूप है अतः वे चैतसिक हैं। इसलिए उन्हें मानना पड़ा कि चेतना ही बन्धन एवं मुक्ति का कारण है। किन्तु जैन विचारक इन एकांगी दृष्टिकोणों से सन्तुष्ट नहीं हो पाये। उनके अनुसार संसार का अर्थ है-जड़ और चेतन का पारस्परिक बन्धन या उनकी पारस्परिक प्रभावशीलता तथा मुक्ति का अर्थ है-- जड़ एवं चेतन की एक दूसरे को प्रभावित करने की सामर्थ्य का समाप्त हो जाना।

भौतिक एवं अभौतिक पक्षों की पारस्परिक प्रभावकता

जिन दार्शनिकों ने चरम-सत्य के सम्बन्ध में अद्वैत की धारणा के स्थान पर द्वैत की धारणा स्वीकार की, उनके लिए यह प्रश्न बना रहा कि वे दोनों तत्त्व एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। अनेक विचारकों ने द्वैत को स्वीकारते हुए भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध को अस्वीकार किया। किन्तु जगत् की व्याख्या इनके पारस्परिक सम्बन्ध के अभाव में सम्भव नहीं है। पश्चिम में यह समस्या देकार्त के सामने प्रस्तुत हुई थी। देकार्त ने इसका हल पारस्परिक प्रतिक्रियावाद के आधार पर किया भी, किन्तु स्पिनोजा उससे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने प्रश्न उठाया कि दो स्वतन्त्र सत्ताओं में परस्पर प्रतिक्रिया सम्भव कैसे है? अतः स्पिनोजा ने प्रतिक्रियावाद के स्थान पर समानान्तरवाद की स्थापना की। लाईबिनीत्ज ने पूर्वस्थापित सामञ्जस्य की अवधारणा प्रस्तुत की^{२०}। भारतीय चिन्तन में भी प्राचीन काल से इस सम्बन्ध में प्रयत्न हुए हैं। उसमें यह प्रश्न उठाया गया कि लिंगशरीर या कर्मशरीर

आत्मा को कैसे प्रभावित कर सकता है? सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के द्वैत को स्वीकार करके भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं समझा पाया, क्योंकि उसने पुरुष को कूटस्थ नित्य मान लिया था, किन्तु जैन दर्शन ने अपने वस्तुवादी और परिणामवादी विचारों के आधार पर इनकी सफल व्याख्या की है। वह बताता है कि जिस प्रकार जड़ मादक पदार्थ चेतना को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार जड़ कर्मवर्गणाओं का प्रभाव चेतन आत्मा पर पड़ता है, इसे स्वीकार किया जा सकता है। संसार का अर्थ है-- जड़ और चेतन का वास्तविक सम्बन्ध। इस सम्बन्ध की वास्तविकता को स्वीकार किये बिना जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं है।

मूर्तकर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव

यह भी सत्य है कि कर्म मूर्त है और वे हमारी चेतना को प्रभावित करते हैं। जैसे मूर्त भौतिक विषयों की चेतना व्यक्ति से सम्बद्ध होने पर सुख-दुःख आदि का अनुभव या वेदना होती है, वैसे ही कर्म के परिणाम स्वरूप भी वेदना होती है, अतः वे मूर्त हैं। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कर्म मूर्त है तो, वह अमूर्त आत्मा पर प्रभाव कैसे डालेगा? जिस प्रकार वायु और अग्नि अमूर्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकती है, उसी प्रकार कर्म का अमूर्त आत्मा पर भी कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। जैनदार्शनिक यह मानते हैं कि जैसे अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। उक्त प्रश्न का दूसरा तर्क-संगत एवं निर्दोष समाधान यह भी है कि कर्म के सम्बन्ध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। क्योंकि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मद्रव्य से सम्बद्ध है, इस अपेक्षा से आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, अपितु कर्म से सम्बद्ध होने के कारण स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वस्तुतः कथंचित् मूर्त है। इस दृष्टि से भी आत्मा पर मूर्तकर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः जिस पर कर्मसिद्धान्त का नियम लागू होता है, वह व्यक्तित्व अमूर्त नहीं है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व शरीर (भौतिक) और आत्मा (अभौतिक) का एक विशिष्ट संयोग है। शरीरी आत्मा भौतिक बाह्य तथ्यों से अप्रभावित नहीं रह सकता। जब तक आत्मा-शरीर (कर्म-शरीर) के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक वह अपने को भौतिक प्रभावों से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रख सकती। मूर्त शरीर के माध्यम से ही उस पर मूर्तकर्म का प्रभाव पड़ता है।

आत्मा और कर्मवर्गणाओं में वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठता है कि मुक्त अवस्था में भी जड़ कर्मवर्गणाएँ आत्मा को प्रभावित किए बिना नहीं रहेंगी, क्योंकि मुक्ति-क्षेत्र में भी कर्मवर्गणाओं का अस्तित्व तो है ही। इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों का उत्तर यह है कि जिस प्रकार कीचड़ में रहा लोहा जंग खाता है, परन्तु स्वर्ण नहीं, उसी प्रकार जड़कर्म पुद्गल उसी आत्मा को विकारी बना सकते हैं, जो राग-द्वेष से अशुद्ध है। वस्तुतः जब तक आत्मा भौतिक

शरीर से युक्त होता है, तभी तक कर्मवर्गणा के पुद्गल उसे प्रभावित कर सकते हैं। आत्मा में पूर्व से उपस्थित कर्मवर्गणा के पुद्गल ही बाह्य-जगत् के कर्मवर्गणाओं को आकर्षित कर सकते हैं। मुक्त अवस्था में आत्मा अशरीरी होता है अतः उसे कर्मवर्गणा के पुद्गल प्रभावित करने में समर्थ नहीं होते हैं।

कर्म एवं उनके विपाक की परम्परा

कर्म एवं उनके विपाक की परम्परा से ही यह संसार-चक्र प्रवर्तित होता है। दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से हुआ। यदि हम यह सम्बन्ध सादि अर्थात् काल विशेष में हुआ, ऐसा मानते हैं, तो यह मानना होगा कि उसके पहले आत्मा मुक्त था और यदि मुक्त आत्मा को बन्धन में आने की सम्भावना हो तो फिर मुक्ति का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है। यदि यह माना जाय कि आत्मा अनादिकाल से बन्धन में है, तो फिर यह मानना होगा कि यदि बन्धन अनादि है तो वह अनन्त भी होगा, ऐसी स्थिति में मुक्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी।

जैन दार्शनिकों ने इस समस्या का समाधान इस रूप में किया कि कर्म और विपाक की यह परम्परा कर्म विशेष की अपेक्षा से तो सादि और सान्त है, किन्तु प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनन्त है। पुनः कर्म और विपाक की परम्परा का यह प्रवाह भी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से अनादि तो है, अनन्त नहीं। क्योंकि प्रत्येक कर्म अपने बन्धन की दृष्टि से सादि है। यदि व्यक्ति नवीन कर्मों का आगमन रोक सके तो यह परम्परा स्वतः ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि कर्म-विशेष तो सादि है ही और जो सादि है वह कभी समाप्त होगा ही।

जैन दार्शनिकों के अनुसार राग-द्वेष रूपी कर्मबीज के भुन जाने पर कर्म प्रवाह की परम्परा समाप्त हो जाती है। कर्म और विपाक की परम्परा के सम्बन्ध में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसके आधार पर बन्धन का अनादित्व व मुक्ति से अनावृत्ति की समुचित व्याख्या सम्भव है।

कर्मफलसंविभाग का प्रश्न

क्या एक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरे को दे सकता है या नहीं अथवा दूसरे के कर्मों का फल उसे प्राप्त होता है या नहीं, यह दार्शनिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय चिन्तन में हिन्दू परम्परा मानती है कि व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों का फल उसके पूर्वजों व सन्तानों को मिल सकता है। इस प्रकार वह इस सिद्धान्त को मानती है कि कर्मफल का संविभाग सम्भव है।^{१९} इसके विपरीत बौद्ध परम्परा कहती है कि व्यक्ति के पुण्यकर्म का ही संविभाग हो सकता है, पापकर्म का नहीं। क्योंकि पापकर्म में उसकी अनुमति नहीं होती है। पुनः उनके अनुसार पाप सीमित होता है अतः इसका संविभाग नहीं हो सकता, किन्तु पुण्य के अपरिमित होने से उसका ही संविभाग सम्भव है।^{२०} किन्तु इस सम्बन्ध में जैनों का दृष्टिकोण भिन्न है, उनके अनुसार

व्यक्ति अपने कर्मों का फल विपाक न तो दूसरों को दे सकता है और न दूसरे के शुभाशुभ कर्मों का फल उसे मिल सकता है। जैन दर्शनिक स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कर्म और उसका विपाक व्यक्ति का अपना स्वकृत होता है।^{२३}

जैन कर्मसिद्धान्त में कर्मफलसंविभाग का अर्थ समझने के लिए हमें निमित्त कारण और उपादान कारण के भेद को समझना होगा। दूसरा व्यक्ति हमारे सुख-दुःख में और हम दूसरे के सुख-दुःख में निमित्त हो सकते हैं, किन्तु भोक्ता और कर्ता तो वही होता है। अतः उपादान की दृष्टि से तो कर्म और उसका विपाक अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव स्वकृत है। निमित्त की दृष्टि से उन्हें परकृत कहा जा सकता है, किन्तु निमित्त अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि कर्म संकल्प तो हमारा अपना ही होता है एवं कर्म के विपाक की अनुभूति भी हमारी ही होती है। अतः उपादान कारण की दृष्टि से तो कर्म एवं उसके विपाक में संविभाग सम्भव नहीं है। न तो दूसरा व्यक्ति हमें सुखी या दुःखी कर सकता है और न हम दूसरे को सुखी या दुःखी कर सकते हैं। हम अधिक से अधिक दूसरे के सुख-दुःख के निमित्त हो सकते हैं। लेकिन ऐसी निमित्तता तो भौतिक पदार्थों के सन्दर्भ में भी होती है। सत्य तो यह है कि कर्म और उसका विपाक दोनों ही व्यक्ति के अपने होते हैं।

कर्मविपाक की नियतता व अनियतता

कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि क्या जिन कर्मों का बन्ध किया गया है, उनका विपाक व्यक्ति को भोगना ही होता है। जैन कर्मसिद्धान्त में कर्मों को दो भागों में बांटा गया है--१. नियतविपाकी और २. अनियतविपाकी। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका जिस फलविपाक को लेकर बन्ध किया गया है, उसी रूप में उनके फल के विपाक का वेदन करना होता है, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जिनका विपाक का वेदन उसी रूप में नहीं करना होता, जिस रूप में उनका बन्ध होता है। जैन कर्मसिद्धान्त मानता है कि जो कर्म तीव्र कषायों से उद्भूत होते हैं उनका बन्ध भी प्रगाढ़ होता है और विपाक भी नियत होता है। पारम्परिक शब्दावली में उन्हें निकाचित कहते हैं। इसके विपरीत जिन कर्मों के सम्पादन के पीछे कषायभाव अल्प होता है, उनका बन्धन शिथिल होता है और उनके विपाक का संवेदन आवश्यक नहीं होता है। वे तप एवं पश्चाताप के द्वारा अपना फल विपाक दिये बिना ही समाप्त हो जाते हैं।

वैयक्तिक दृष्टि से सभी आत्माओं में कर्मविपाक परिवर्तन करने की क्षमता नहीं होती है। केवल वे ही व्यक्ति जो आध्यात्मिक ऊंचाई पर स्थित हैं, कर्मविपाक में परिवर्तन कर सकते हैं। पुनः वे भी उन कर्मों के विपाक को अन्यथा कर सकते हैं, जिनका बन्ध अनियतविपाकी कर्म के रूप में हुआ है। नियतविपाकी कर्मों का भोग तो अनिवार्य है। इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त अपने को नियतिवाद और यदृच्छावाद दोनों की एकांगिकता से बचाता है।

वस्तुतः कर्मसिद्धान्त में कर्मविपाक की नियतता और अनियतता

की विरोधी धारणाओं के समन्वय के अभाव में नैतिक जीवन की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं होती है। यदि एकान्त रूप से कर्मविपाक की नियतता को स्वीकार किया जाता है, तो नैतिक आचरण का चाहे निषेधात्मक रूप में कुछ सामाजिक मूल्य बना रहे, लेकिन उसका विधायक मूल्य तो पूर्णतया समाप्त हो जाता है, क्योंकि नियत भविष्य के बदलने की सामर्थ्य नैतिक जीवन में नहीं रह पाती है। दूसरे, यदि कर्मों को पूर्णतः अनियतविपाकी माना जाये, तो नैतिक व्यवस्था का ही कोई अर्थ नहीं रह जाता है। विपाक की पूर्णनियतता को मानने पर निर्धारणवाद और विपाक की पूर्ण अनियतता मानने पर अनिर्धारणवाद की सम्भावना होगी, लेकिन दोनों ही धारणाएँ ऐकान्तिक रूप में नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या कर पाने में असमर्थ हैं। अतः कर्मविपाक की आंशिक नियतता ही एक तर्कसंगत दृष्टिकोण है, जो नैतिक दर्शन की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ^{२४}

जैन दर्शन में कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं पर चिन्तन हुआ है और बताया गया है कि कर्म के बन्ध और विपाक (उदय) के बीच कोन-कोन सी अवस्थाएँ घटित हो सकती हैं, पुनः वे किस सीमा तक आत्मस्वातन्त्र्य को कुण्ठित करती हैं अथवा किसी सीमा तक आत्मस्वातन्त्र्य को अभिव्यक्त करती हैं, इसकी चर्चा भी की गयी है। ये अवस्थाएँ निम्न हैं--

१. **बन्ध**— कषाय एवं योग के फलस्वरूप कर्मवर्णना के पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से जो सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे बन्ध कहते हैं।

२. **संक्रमण**— एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार कर्म का एक भेद अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है। अवान्तर कर्म-प्रकृतियों का यह अदल-बदल संक्रमण कहलाता है। संक्रमण में आत्मा पूर्वबद्ध कर्म प्रकृति का नवीन कर्मप्रकृति का बन्ध करते समय रूपान्तरण करता है। उदाहरण के रूप में पूर्व बद्ध दुःखद संवेदन रूप असातावेदनीय कर्म का नवीन सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते समय सातावेदनीय कर्म के रूप में संक्रमण किया जा सकता है। संक्रमण की यह क्षमता आत्मा की पवित्रता के साथ ही बढ़ती जाती है। जो आत्मा जितनी पवित्र होती है, उसमें संक्रमण की क्षमता भी उतनी ही अधिक होती है। आत्मा में कर्मप्रकृतियों के संक्रमण की सामर्थ्य होना यह बताता है, जहाँ अपवित्र आत्माएँ परिस्थितियों की दास होती हैं, वहीं पवित्र आत्मा परिस्थितियों की स्वामी होती हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रथम तो मूल कर्मप्रकृतियों का एक दूसरे में कभी भी संक्रमण नहीं होता है जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण में नहीं बदलता है। मात्र यही नहीं, दर्शनमोह कर्म, चारित्रमोह कर्म और आयुष्य कर्म की अवान्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है।

३. **उद्वर्तना**— नवीन बन्ध करते समय आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) को बढ़ा भी सकता

है। काल-मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की यह प्रक्रिया उद्वर्तना कहलाती है।

४. **अपवर्तना**— नवीन बन्ध करते समय पूर्व बद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) को कम भी किया जा सकता है, इसे अपवर्तना कहते हैं।

५. **सत्ता**— कर्म के बद्ध होने के पश्चात् तथा उसके विपाक से पूर्व बीच की अवस्था सत्ता कहलाती है। सत्ता काल में कर्म अस्तित्व में तो रहता है, किन्तु वह सक्रिय नहीं होता।

६. **उदय**— जब कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं तो वह अवस्था उदय कहलाती है। उदय दो प्रकार का माना गया है— १. विपाकोदय और २. प्रदेशोदय। कर्म का अपना अपने फल की चेतन अनुभूति कराये बिना ही निर्जरित होना प्रदेशोदय कहलाता है। जैसे अचेतन अवस्था में शल्य क्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती, यद्यपि वेदना की घटना घटित होती है। इसी प्रकार बिना अपनी फलानुभूति करवाये जो कर्म परमाणु आत्मा से निर्जरित होते हैं, उनका उदय प्रदेशोदय होता है। इसके विपरीत जिन कर्मों की अपने विपाक के समय फलानुभूति होती है उनका उदय विपाकोदय कहलाता है। ज्ञातव्य है कि विपाकोदय में प्रदेशोदय अनिवार्य रूप से होता है, लेकिन प्रदेशोदय में विपाकोदय हो, यह आवश्यक नहीं है।

७. **उदीरणा**— अपने नियतकाल से पूर्व ही पूर्वबद्ध कर्मों को प्रयासपूर्वक उदय में लाकर उनके फलों को भोगना, उदीरणा है। ज्ञातव्य है कि जिस कर्मप्रकृति का उदय या भोग चल रहा हो, उसकी सजातीय कर्मप्रकृति की ही उदीरणा सम्भव होती है।

८. **उपशमन**— उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना अथवा काल-विशेष के लिए उन्हें फल देने से अक्षम बना देना उपशमन है। उपशमन में कर्म की सत्ता समाप्त नहीं होती, मात्र उसे काल विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना दिया जाता है। इसमें कर्म राख से दबी अग्नि के समान निष्क्रिय होकर सत्ता में बने रहते हैं।

९. **निधत्ति**— कर्म की वह अवस्था निधत्ति है, जिसमें कर्म न तो अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित या संक्रमित हो सकते हैं और न अपना फल प्रदान कर सकते हैं, लेकिन कर्मों की समय-मर्यादा और विपाक-तीव्रता (परिमाण) को कम अधिक किया जा सकता है अर्थात् इस अवस्था में उत्कर्षण और अपकर्षण सम्भव है, संक्रमण नहीं।

१०. **निकाचना**— कर्मों के बन्धन का इतना प्रगाढ़ होना कि उनकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता में कोई भी परिवर्तन न किया जा सके, न समय से पूर्व उनका भोग ही किया जा सके, निकाचना कहलाता है। इस दशा में कर्म का जिस रूप में बन्धन हुआ होता है, उसको उसी रूप में अनिवार्यतया भोगना पड़ता है।

इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त में कर्म के फल विपाक की नियतता और अनियतता को सम्यक् प्रकार से समन्वित करने का प्रयास किया गया है तथा यह बताया गया है कि जैसे-जैसे आत्मा

कषायों से मुक्त होकर आध्यात्मिक विकास की दिशा में बढ़ता है, वह कर्म के फल विपाक की नियतता को समाप्त करने में सक्षम होता जाता है। कर्म कितना बलवान होगा यह बात मात्र कर्म के बल पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा की पवित्रता पर भी निर्भर है। इन अवस्थाओं का चित्रण यह भी बताता है कि कर्मों का विपाक या उदय एक अलग स्थिति है तथा उनसे नवीन कर्मों का बन्ध होना या न होना यह एक अलग स्थिति है। कषाय-युक्त प्रमत्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन कर्मों का बन्ध करता है, इसके विपरीत कषाय-मुक्त अप्रमत्त आत्मा कर्मों के विपाक में नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता है, मात्र पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरित करता है।

कर्म का शुभत्व और अशुभत्व^{२५}

कर्मों को सामान्तया शुद्ध (अकर्म), शुभ और अशुभ, ऐसे तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से इन्हें निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है:-

कर्म	जैन	बौद्ध	गीता	पाश्चात्य
१. शुद्ध	ईर्यापथिक	अव्यक्तकर्म	अकर्म	अनैतिक कर्म
२. शुभ	पुण्यकर्म	कुशल (शुक्ल) कर्म	कर्म	नैतिक कर्म
३. अशुभ	पाप कर्म	अकुशल (कृष्ण) कर्म	विकर्म	अनैतिक कर्म

जैन दर्शन में कर्म के बन्धक होने के आधार पर मुख्य रूप से दो विभाग किये गये हैं— १. ईर्यापथिक और २. साम्परायिक। इनमें साम्परायिक कर्म को पुनः दो विभागों में विभाजित किया गया है— (अ) अशुभ (पाप) और (ब) शुभ (पुण्य)। आगे हम इसी सन्दर्भ में चर्चा करेंगे।

अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि— वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डालें जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है^{२६}। सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीडनं)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं, सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण

जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म १८ प्रकार के हैं— १. प्राणातिपात (हिंसा), २. मृषावाद (असत्य भाषण), ३. अदत्तादान (चौर्य कर्म), ४. मैथुन (काम-विकार), ५. परिग्रह (ममत्व, मूर्खा, तृष्णा या संचयवृत्ति), ६. क्रोध (गुस्सा), ७. मान (अहंकार), ८.

माया (कपट, छल, षड्यन्त्र और कूटनीति), ९. लोभ (संचय या संग्रह वृत्ति), १०. राग (आसक्ति), द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि), ११. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), १२. अभ्याख्यान (दोषारोपण), १३. पिशुनता (चुंगली), १४. परपरिवाद (परनिन्दा), १५. रति-अरति (हर्ष और शोक), १६. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), १७. मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवनदृष्टि)।^{२७}

पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं— शुभासव पुण्य है^{२८}, लेकिन पुण्य मात्र आसव नहीं है, वह बन्ध और विपाक भी है। वह हेय ही नहीं है, उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि-पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।^{२९} इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।^{३०} आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशील कुमार लिखते हैं कि- “पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।^{३१} जैन कवि बनारसीदासजी समयसार नाटक में कहते हैं कि— “जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता है, वही पुण्य है।^{३२}

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल-परमाणु हैं, जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो उन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भावपुण्य हैं और शुभ-पुद्गल-परमाणु द्रव्यपुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-प्रवृत्तियों

को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है।^{३३} स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं^{३४}—

१. अन्नपुण्य भोजनादि देकर क्षुधार्ता की क्षुधा-निवृत्ति करना।
२. पानपुण्य— तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
३. लयनपुण्य— निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
४. शयनपुण्य— शय्या, बिछौना आदि देना।
५. वस्त्रपुण्य— वस्त्र का दान देना।
६. मनपुण्य— मन से शुभ विचार करना। जगत् के मंगल की शुभकामना करना।
७. वचनपुण्य— प्रशस्त एवं संतोष देनेवाली वाणी का प्रयोग करना।
८. कायपुण्य— रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
९. नमस्कारपुण्य— गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं— (१) कर्म का बाह्य-स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और (२) कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन-सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध-दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि— जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बृद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार डालें तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।^{३५} धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है (नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजासहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।^{३६} बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आद्रक सम्वाद में भी मिलता है।^{३७} जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी जैनधर्म पृ. १६० पर लिखते हैं, “शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये परन्तु डॉक्टर तो पाप-कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणामय अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।” पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्य-बन्ध की कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है (दर्शन और चिन्तन खण्ड २.पृ. २२६)।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं, फिर भी उसमें

कर्म का बाह्य-स्वरूप अपेक्षित नहीं है। निश्चयदृष्टि से तो मनोवृत्तियाँ ही कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायक हैं, फिर भी व्यवहारदृष्टि से कर्म का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग (२/६) में आद्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं कि जो मांस खाता हो— चाहे न जानते हुए भी खाता हो— तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते, इसलिए दोष (पाप) नहीं लगता, ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है? इससे स्पष्ट है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक-व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है, क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है, दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति-सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज-सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आन्तरिक) दोनों का मूल्य है। योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं। मन में शुभ भाव हो तो पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है कि मन में शुभ भाव हो तो पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है कि मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है? उसकी दृष्टि में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्मप्रवंचना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग (१/१/२४-२९) में कहा गया है, कर्म-बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग संसार में फंसते रहते हैं क्योंकि पाप लगने के तीन स्थान हैं— स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप-मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना-निग्रह) में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बातें मानकर पाप में पड़े हैं।

पाश्चात्य आचारदर्शन में भी सुखवादी दार्शनिक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं, जब कि मार्टिन्यू कर्मप्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन दर्शन के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य है— एक का आधार लोकदृष्टि है तथा दूसरी का आधार परमार्थ-दृष्टि या शुद्ध-दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है, अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है।

कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वो परिणाम को, दोनों स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य-कर्म या उचित कर्म कहा जायेगा, इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहाँ कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति-सापेक्ष है, तो वैयक्तिक कर्म-प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है। लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाजकल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है। उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवनदृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धन या अबन्धन का आधार है, लेकिन शुभ और अशुभ दोनों में ही राग तो होता ही है, राग के अभाव में तो कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक (शुद्ध) होगा। शुभाशुभ कर्मों में प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं, वरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त-राग शुभ या पुण्यबन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त-राग अशुभ या पापबन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष की कमी के आधार पर निर्भर करती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और मन्द होगी वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी, राग उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेषविहीन राग या प्रशस्तराग ही निष्काम प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम से परार्थ या परोपकारवृत्ति का उदय होता है जो शुभ का सृजन करती है। उसी से लोक-मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य-कर्म निस्सृत होते हैं, जबकि द्वेषयुक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ-वृत्ति का विकास करता है। उससे अशुभ, अमंगलकारी पापकर्म निस्सृत होते हैं। संक्षेप में जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होता है, वह पुण्य कर्म है और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होता है, वह पाप कर्म है।

जैन आचारदर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक जोर देता है वे सभी समाज-सापेक्ष हैं। वस्तुतः शुभ-अशुभ के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप के समग्र चिन्तन का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि 'परोपकार पुण्य है और परपीड़न पाप है।' जैन विचारकों ने पुण्य-बन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक मंगल से है। इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है, वे सभी लोक अमंगलकारी तत्त्व हैं।^{३८} इस प्रकार जहाँ तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है, हमें सामाजिक सन्दर्भ में उसे देखना होगा, यद्यपि बन्धन की दृष्टि से विचार करते समय कर्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता।

सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार

यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गये व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है, लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौन-सा अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाये? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जैसा व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है। इसके विपरीत जो व्यवहार हमें अपने लिए प्रतिकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमें अपने लिए अनुकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों का यही संदेश है। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता।^{३९} सूत्रकृतांग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।^{४०}

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर

जैन दृष्टिकोण— जैन विचारणा में शुभ-अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गयी है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तत्त्व नौ हैं जिनमें पुण्य और पाप स्वतन्त्र तत्त्व हैं।^{४१} तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व गिनाये हैं, इनमें पुण्य और पाप को नहीं गिनाया है।^{४२} लेकिन यह विवाद महत्त्वपूर्ण नहीं क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आस्रव तत्त्व के अन्तर्गत मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नहीं है, वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी होता है। अतः आस्रव के शुभास्रव और अशुभास्रव ये दो विभाग करने से काम नहीं बनता, बल्कि बन्ध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में गिन लिया गया है।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण-मार्ग के साधक के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है, क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है, नैतिक पूर्णता नहीं आती। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है। ऋषिभाषित सूत्र में ऋषि कहता है कि पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति का मूल है।^{४३} आचार्य कुन्दकुन्द

पुण्य-पाप दोनों को बन्धन का कारण कहकर दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार में वे कहते हैं कि— अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं, फिर भी पुण्य कर्म एवं पाप कर्म दोनों ही संसार (बन्धन) का कारण है जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह-बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन के कारण हैं।^{४४} फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण-बेड़ी कहकर उसकी पाप से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।^{४५} यही बात पं. जयचन्द्रजी भी कहते हैं—

पुण्य पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुई मानि।

शुद्ध आत्मा जिन लहयो, नमू चरन हित जानि।^{४६}

जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण की दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को त्यागना ही होता है, फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है फिर भी उसे अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म-दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है, उसे भी छोड़ना होता है। जिस प्रकार साबुन मल को दूर करता है और मैल छूटने पर स्वयं अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य भी पापरूप मल को अलग करने में सहायक होता है। अतः व्यक्ति जब अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है, तब उसका शुभ कर्म भी शुद्ध बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है, अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निस्सृत होते हैं, वे शुद्ध (ईर्यापथिक) होते हैं। जैनाचार्यदर्शन में राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्तिपूर्वक किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का कारण माना गया है। यहाँ पर गीता का अनासक्त कर्म-योग जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्ष्य अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभकर्म से शुद्धकर्म (वीतराग दशा) की प्राप्ति है। आत्म का शुद्धोपयोग ही जैन धर्म का अन्तिम साध्य है।

शुद्ध कर्म (अकर्म)

शुद्ध कर्म वह जीवन-व्यवहार है, जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित मात्र कर्तव्यबुद्धि से सम्पादित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालती। अबन्धक कर्म ही शुद्धकर्म हैं। जैन आचार्यदर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करता है कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन में क्या सम्बन्ध है? क्या 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति सर्वाशतः सत्य है? एक तो कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है

और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त कठिन है। गीता कहती है कि कर्म (बन्धक कर्म) क्या है और अकर्म (अबन्धक कर्म) क्या है, इसके विषय में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।^{४७} कर्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का विषय अत्यन्त गहन है। यह कर्म-समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समानरूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है और कर्म-बन्ध का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।^{४८} बन्धन की दृष्टि से कर्म का विचार उसके बाह्य-स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्ता के प्रयोजन को, जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता।

लेकिन, कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है, यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे, क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि— मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जायेगा।^{४९} नैतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धन की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है—

जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार

कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। (१) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (२) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं, और कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन दर्शन में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन हमें सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कर्म और अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।^{५०} इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है, जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट

करने का प्रयास करते हैं कि 'कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव' ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं कि प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।^{५१} ऐसा कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता नहीं, वह तो सतत् जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म-जागृति की दशा में क्रियाशीलता भी अकर्म हो जाती है, जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं, वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय-भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। जैन दर्शन के अनुसार, राग-द्वेष एवं कषाय (जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा हैं) ही किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं, जबकि कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि— जो आसन्न या बन्धन कारक क्रियाएँ हैं, वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति का साधन बन जाती हैं।^{५२} इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य-स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं।

ईर्यापथिक कर्म और साम्प्रदायिक कर्म^{५३}

जैन दर्शन में बन्धन की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बाँटा गया है—(१) ईर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (२) साम्प्रदायिक क्रियाएँ (कर्म)। ईर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतरागदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बन्धनकारक नहीं हैं और साम्प्रदायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बन्धनकारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएँ जो आसन्न एवं बन्ध की कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ जो संवर एवं निर्जरा की हेतु हैं, अकर्म हैं। जैन दृष्टि में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म का अर्थ है—राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तव्य अथवा शरीर-निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। कर्म का अर्थ है—राग-द्वेष और मोह से युक्त कर्म, वह बन्धन में डालता है, इसलिए वह कर्म है। जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्तव्य या शरीरनिर्वाह के लिए किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं है, अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में ईर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है, उन्हें बौद्ध परम्परा अनुपचित, अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन-परम्परा साम्प्रदायिक क्रियाएँ या कर्म कहती है, उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती है। इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

बन्धन के कारणों में मिथ्यात्व और कषाय की प्रमुखता का प्रश्न^{५४}

जैन कर्मसिद्धान्त के उद्भव व विकास की चर्चा करते हुए हमने बन्धन के पाँच सामान्य कारणों का उल्लेख किया था। वैसे जैन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न कर्मों के बन्धन के भिन्न-भिन्न कारणों की

विस्तृत चर्चा भी उपलब्ध होती है। किन्तु सामान्य रूप से बन्धन के ५ कारण माने गए हैं—१. मिथ्यात्व २. अविरति ३. प्रमाद ४. कषाय और ५. योग।

इन पाँच कारणों में योग को अर्थात् मानसिक, वाचिक व शारीरिक क्रियाओं को बन्धन का कारण कहा गया है, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि यदि पूर्व के चार का अभाव हो, तो मात्र योग से कर्मवर्गणाओं का आस्रव होकर, जो बन्ध होगा, वह ईर्यापथिक बन्ध कहलाता है। उसके सन्दर्भ में कहा गया है उसका प्रथम समय में बन्ध होता है और दूसरे समय में निर्जरा हो जाती है। ईर्यापथिक बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसे चलते समय शुभ्र आर्द्रता से रहित कपड़े पर गिरे हुए बालू के कण, जो गति की प्रक्रिया में ही आते हैं और फिर अलग भी हो जाते हैं। वस्तुतः यह बन्ध वास्तविक बन्ध नहीं है। अतः हम समझते हैं कि इन ५ कारणों में योग महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। यद्यपि अविरति, प्रमाद एवं कषाय को अलग-अलग कारण कहा गया है, किन्तु इनमें भी बहुत अन्तर नहीं है। जब हम प्रमाद को व्यापक अर्थ में लेते हैं तब कषायों का अन्तर्भाव प्रमाद में हो जाता है। दूसरे कषायों की उपस्थिति में ही प्रमाद सम्भव होता है। उनकी अनुपस्थिति में प्रमाद सामान्यतया तो रहता ही नहीं है और यदि रहे भी तो अति निर्बल होता है। इसी प्रकार अविरति के मूल में भी कषाय ही होते हैं। यदि हम कषाय को व्यापक अर्थ में लें तो अविरति और प्रमाद दोनों उसी में अन्तर्भावित हो जाते हैं। अतः बन्धन के दो ही प्रमुख कारण शेष रहते हैं—मिथ्यात्व और कषाय।

मिथ्यात्व एवं कषाय में कौन प्रमुख कारण है, यह वर्तमान युग में एक बहुचर्चित विषय है। इस सन्दर्भ में पक्ष व प्रतिपक्ष में पर्याप्त लेख लिखे गये हैं। आचार्य विद्यासागरजी एवं उनके समर्थक विद्वत् वर्ग का कहना है कि मिथ्यात्व अकिंचितकर है और कषाय ही बन्धन का प्रमुख कारण है, क्योंकि कषाय की उपस्थिति के कारण ही मिथ्यात्व होता है। कानजीस्वामी समर्थक दूसरे वर्ग का कहना है कि मिथ्यात्व ही बन्धन का प्रमुख कारण है। वस्तुतः यह विवाद अपने-अपने एकांगी दृष्टिकोणों के कारण है। कषाय और मिथ्यात्व ये दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। कषाय के अभाव में मिथ्यात्व की सत्ता नहीं रहती और न मिथ्यात्व के अभाव में कषाय ही रहते हैं। मिथ्यात्व तभी समाप्त होता है, जब अनन्तानुबन्धी कषायें समाप्त होती हैं और कषायें भी तभी समाप्त होती हैं, जब मिथ्यात्व का प्रहाण होता है। वे ताप और प्रकाश के समान सहजीवी हैं। इनमें एक के अभाव में दूसरे की सत्ता क्षीण होने लगती है। वैसे मिथ्यात्व, अज्ञान एवं मोह का पर्यायवाची है। आवेगों अर्थात् कषायों की उपस्थिति में ही मोह या मिथ्यात्व सम्भव होता है। वास्तविकता यह है कि मोह (मिथ्यात्व) से कषाय उत्पन्न होते हैं और कषायों के कारण ही मोह (मिथ्यात्व) होता है। अतः कषाय और मिथ्यात्व अन्योन्याश्रित हैं और बीज एवं वृक्ष की भाँति इनमें से किसी की पूर्व कोटि निर्धारित नहीं की जा सकती है।

यदि हम इसी प्रश्न पर बौद्ध दृष्टि से विचार करें तो उसमें

सामान्यतया लोभ (राग), द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण कहा गया है। बौद्ध परम्परा में भी इनको परस्पर सापेक्ष ही माना गया है। मोह को बौद्ध परम्परा में अविद्या भी कहा गया है। बौद्ध विचारणा यह मानती है कि अविद्या (मोह) के कारण तृष्णा (राग) होती है और तृष्णा के कारण मोह होता है। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं— लोभ एवं द्वेष का हेतु मोह है, किन्तु पर्याय से लोभ व मोह भी द्वेष के हेतु हैं। बौद्ध दर्शन में भी जैन दर्शन के समान ही अविद्या और तृष्णा को अन्योन्याश्रित माना गया है और कहा गया है कि इनमें से किसी की भी पूर्व कोटि निर्धारित करना सम्भव नहीं है। सांख्य एवं योग दर्शन में क्लेशों या बन्धन के ५ कारण हैं—अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष, अभिनिवेश। इनमें भी अविद्या प्रमुख है। शेष चारों उसी पर आधारित हैं। न्याय दर्शन भी जैन और बौद्धों के समान ही राग-द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण मानता है। इस प्रकार लगभग सभी दर्शन प्रकारान्तर से राग-द्वेष एवं मोह (मिथ्यात्व) को बन्धन का कारण मानते हैं।

बन्धन के चार प्रकारों से बन्धनों के कारण का सम्बन्ध^{५५}

जैन कर्म सिद्धान्त में बन्धन के चार प्रारूप कहे गए हैं:- १. प्रकृति बन्ध, २. प्रदेश बन्ध, ३. स्थिति बन्ध, एवं ४. अनुभाग बन्ध।
१. **प्रकृतिबन्ध**— बन्धन के स्वभाव का निर्धारण प्रकृति बन्ध करता है। यह, यह निश्चय करता है कि कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि किस शक्ति को आवृत करेंगे।
२. **प्रदेश बन्ध**— यह कर्मपरमाणुओं की आत्मा के साथ संयोजित होने वाली मात्रा का निर्धारण करता है। अतः यह मात्रात्मक होता है।
३. **स्थितिबन्ध**— कर्मपरमाणु कितने समय तक आत्मा से संयोजित रहेंगे और कब निर्जरित होंगे, इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थिति-बन्ध करता है। अतः यह बन्धन की समय-मर्यादा का सूचक है।
४. **अनुभागबन्ध**— कर्मों के बन्धन और विपाक की तीव्रता एवं मन्दता का निश्चय करना, यह अनुभाग बन्ध का कार्य है। दूसरे शब्दों में यह बन्धन की तीव्रता या गहनता का सूचक है।

उपरोक्त चार प्रकार के बन्धनों में प्रकृति बन्ध एवं प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध मुख्यतया योग अर्थात् कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं से है, जबकि बन्धन की तीव्रता (अनुभाग) एवं समयावधि (स्थिति) का निश्चय कर्म के पीछे रही हुई कषाय-वृत्ति और मिथ्यात्व पर आधारित होता है। संक्षेप में योग का सम्बन्ध प्रदेश एवं प्रकृति बन्ध से है, जबकि कषाय का सम्बन्ध स्थिति एवं अनुभाग बन्ध से है।

आठ प्रकार के कर्म और उनके बन्धन के कारण^{५६}

जिस रूप में कर्मपरमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते हैं और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं-- उनके अनुसार उनके विभाग किये जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार कर्म आठ प्रकार के हैं --१. ज्ञानावरणीय २. दर्शनावरणीय ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयुष्य ६. नाम ७. गोत्र

और ८. अन्तराय।

१. ज्ञानावरणीय कर्म—

जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढँक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढँक देती हैं और ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन के कारण— जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु आत्मा से संयोजित होकर ज्ञान-शक्ति को कुंठित करते हैं, वे छः हैं—

१. प्रदोष— ज्ञानी का अवर्णवाद (निन्दा) करना एवं उसके अवगुण निकालना।
२. निह्व— ज्ञानी का उपकार स्वीकार न करना अथवा किसी विषय को जानते हुए भी उसका अपलाप करना।
३. अन्तराय— ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनना, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधन पुस्तकादि को नष्ट करना।
४. मात्सर्य— विद्वानों के प्रति द्वेष-बुद्धि रखना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि में अरुचि रखना।
५. असादना— ज्ञान एवं ज्ञानी पुरुषों के कथनों को स्वीकार नहीं करना, उनका समुचित विनय नहीं करना।
६. उपघात— विद्वानों के साथ मिथ्याग्रह युक्त विसंवाद करना अथवा स्वार्थवश सत्य को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना।

उपर्युक्त छः प्रकार का अनैतिक आचरण व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के कुंठित होने का कारण है।

ज्ञानावरणीय कर्म का विपाक— विपाक की दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म के कारण पाँच रूपों में आत्मा की ज्ञान-शक्ति का आवरण होता है—

- (१) मतिज्ञानावरण— ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान-क्षमता का अभाव,
- (२) श्रुतज्ञानावरण— बौद्धिक अथवा आगमज्ञान की अनुपलब्धि,
- (३) अवधि ज्ञानावरण— अतीन्द्रिय ज्ञान-क्षमता का अभाव
- (४) मनःपर्याय ज्ञानावरण— दूसरे की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करने लेने की शक्ति का अभाव
- (५) केवलज्ञानावरण— पूर्णज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का अभाव।

कहीं-कहीं विपाक की दृष्टि से इसके १० भेद भी बताये गये हैं— १. सुनने की शक्ति का अभाव, २. सुनने से प्राप्त होने वाले ज्ञान की अनुपलब्धि, ३. दृष्टि शक्ति का अभाव, ४. दृश्यज्ञान की अनुपलब्धि, ५. गंधग्रहण करने की शक्ति का अभाव, ६. गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, ७. स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, ८. स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, ९. स्पर्श-क्षमता का अभाव और १०. स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।

२. दर्शनावरणीय कर्म

जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधक होता है, उसी

प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की दर्शन-शक्ति में बाधक होती हैं, वे दर्शनावरणीय कर्म कहलाती हैं। ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु-तत्त्व का निर्विशेष (निर्विकल्प) बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष गुण धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन-गुण को आवृत करता है।

दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के कारण— ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आचरण के द्वारा दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है— (१) सम्यक् दृष्टि की निन्दा (छिद्रान्वेषण) करना अथवा उसके प्रति अकृतज्ञ होना, (२) मिथ्यात्व या असत् मान्यताओं का प्रतिपादन करना, (३) शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना, (४) सम्यग्दृष्टि का समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना, (५) सम्यग्दृष्टि पर द्वेष करना (६) सम्यग्दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना।

दर्शनावरणीय कर्म का विपाक— उपर्युक्त अशुभ आचरण के कारण आत्मा का दर्शन गुण नौ प्रकार से कुंठित हो जाता है—

- (१) चक्षुदर्शनावरण— नेत्रशक्ति का अवरुद्ध हो जाना।
- (२) अचक्षुदर्शनावरण— नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य अनुभवशक्ति का अवरुद्ध हो जाना।
- (३) अवधिदर्शनावरण— सीमित अतीन्द्रिय दर्शन की उपलब्धि में बाधा उपस्थित होना।
- (४) केवल दर्शनावरण— परिपूर्ण दर्शन की उपलब्धि का नहीं होना।
- (५) निद्रा— सामान्य निद्रा।
- (६) निद्रानिद्रा— गहरी निद्रा।
- (७) प्रचला— बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा।
- (८) प्रचला-प्रचला— चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा।
- (९) स्थानगृब्धि— जिस निद्रा में प्राणी बड़े-बड़े बल-साध्य कार्य कर डालता है।

अन्तिम दो अवस्थाएँ आधुनिक मनोविज्ञान के द्विविध व्यक्तित्व के समान मानी जा सकती हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार की निद्राओं के कारण व्यक्ति की सहज अनुभूति की क्षमता में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

३. वेदनीय कर्म

जिसके कारण सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं— १. सातावेदनीय और २. असातावेदनीय। सुख रूप संवेदना का कारण सातावेदनीय और दुःख रूप संवेदना का कारण असातावेदनीय कर्म कहलाता है। **सातावेदनीय कर्म के कारण—** दस प्रकार का शुभाचरण करने वाला व्यक्ति सुखद-संवेदना रूप सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है— (१) पृथ्वी, पानी आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना। (२) वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना। (३) द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना। (४) पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर

अनुकम्पा करना। (५) किसी को भी किसी प्रकार से दुःख न देना। (६) किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो ऐसा कार्य न करना। (७) किसी भी प्राणी को शोकाकुल नहीं बनना। (८) किसी भी प्राणी को रुदन नहीं कराना। (९) किसी भी प्राणी को नहीं मारना और (१०) किसी भी प्राणी को प्रताड़ित नहीं करना। कर्मग्रन्थों में सातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण गुरुभक्ति, क्षमा, करुणा, व्रतपालन, योग-साधना, कषायविजय, दान और दृढश्रद्धा माना गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार का भी यही दृष्टिकोण है।

सातावेदनीय कर्म का विपाक— उपर्युक्त शुभाचरण के फलस्वरूप प्राणी निम्न प्रकार की सुखद संवेदना प्राप्त करता है— (१) मनोहर, कर्णप्रिय, सुखद स्वर श्रवण करने को मिलते हैं, (२) सुस्वादु भोजन-पानादि उपलब्ध होती है, (३) वांछित सुखों की प्राप्ति होती है, (४) शुभ वचन, प्रशंसादि सुनने का अवसर प्राप्त होता है, (५) शारीरिक सुख मिलता है।

असातावेदनीय कर्म के कारण— जिन अशुभ आचरणों के कारण प्राणी को दुःखद संवेदना प्राप्त होती है वे १२ प्रकार के हैं— (१) किसी भी प्राणी को दुःख देना, (२) चिन्तित बनाना, (३) शोकाकुल बनाना, (४) रुलाना, (५) मारना और (६) प्रताड़ित करना, इन छः क्रियाओं की मन्दता और तीव्रता के आधार पर इनके बारह प्रकार हो जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार— (१) दुःख (२) शोक (३) ताप (४) आक्रन्दन (५) वध और (६) परिदेवन ये छः असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं, जो 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से १२ प्रकार के हो जाते हैं। स्व एवं पर की अपेक्षा पर आधारित तत्त्वार्थसूत्र का यह दृष्टिकोण अधिक संगत है। कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय के बन्ध के कारणों के विपरीत गुरु का अविनय, अक्षमा, क्रूरता, अविरति, योगाभ्यास नहीं करना, कषाययुक्त होना, तथा दान एवं श्रद्धा का अभाव असातावेदनीय कर्म के कारण माने गये हैं। इन क्रियाओं के विपाक के रूप में आठ प्रकार की दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं— (१) कर्ण-कट्ट, कर्कश स्वर सुनने को प्राप्त होते हैं (२) अमनोज्ञ एवं सौन्दर्यविहीन रूप देखने को प्राप्त होता है, (३) अमनोज्ञ गन्धों की उपलब्धि होती है, (४) स्वादविहीन भोजनादि मिलता है, (५) अमनोज्ञ, कठोर एवं दुःखद संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श की प्राप्ति होती है, (६) अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियों का होना, (७) निन्दा अपमानजनक वचन-सुनने को मिलते हैं और (८) शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति से शरीर का दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।

४. मोहनीय कर्म

जैसे मदिरा आदि नशीली वस्तु के सेवन से विवेक-शक्ति कुंठित हो जाती है, उसी प्रकार जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की विवेक-शक्ति कुंठित होती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है, उन्हें मोहनीय (विमोहित करने वाले) कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं— दर्शनमोह और चारित्रमोह।

मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण— सामान्यतया मोहनीय कर्म का बन्ध छः कारणों से होता है— (१) क्रोध, (२) अहंकार, (३) कपट, (४) लोभ, (५) अशुभाचरण और (६) विवेकाभाव (विमूढ़ता)। प्रथम पाँच से चारित्रमोह का और अन्तिम से दर्शनमोह का बन्ध होता है। कर्मग्रन्थ में दर्शनमोह और चारित्रमोह के बन्धन के कारण अलग-अलग बताये गये हैं। दर्शनमोह के कारण हैं— उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग का अपलाप, धार्मिक सम्पत्ति का अपहरण और तीर्थकर, मुनि, चैत्य (जिन-प्रतिमाएँ) और धर्म-संघ के प्रतिकूल आचरण। चारित्रमोह कर्म के बन्धन के कारणों में कषाय, हास्य आदि तथा विषयों के अधीन होना प्रमुख है। तत्त्वार्थ-सूत्र में सर्वज्ञ, श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद (निन्दा) को दर्शनमोह का तथा कषायजनित आत्म-परिणाम को चारित्रमोह का कारण माना गया है। समवायांगसूत्र में तीव्रतम मोहकर्म के बन्धन के तीस कारण बताये गये हैं— (१) जो किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबाकर मारता है। (२) जो किसी त्रस प्राणी को तीव्र अशुभ अध्यवसाय से मस्तक को गीला चमड़ा बांधकर मारता है। (३) जो किसी त्रस प्राणी को मुँह बाँध कर मारता है। (४) जो किसी त्रस प्राणी को अग्नि के धुएँ से मारता है। (५) जो किसी त्रस प्राणी के मस्तक का छेदन करके मारता है। (६) जो किसी त्रस प्राणी को छल से मारकर हँसता है। (७) जो मायाचार करके तथा असत्य बालेकर अपना अनाचार छिपाता है। (८) जो अपने दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगता है। (९) जो कलह बढ़ाने के लिए जानता हुआ मिश्र भाषा बोलता है। (१०) जो पति-पत्नी में मतभेद पैदा करता है तथा उन्हें मार्मिक वचनों से लज्जित कर देता है। (११) जो स्त्री में आसक्त व्यक्ति अपने-आपको कुंवारा कहता है। (१२) जो अत्यन्त कामुक व्यक्ति अपने आप को ब्रह्मचारी कहता है। (१३) जो चापलूसी करके अपने स्वामी को ठगता है। (१४) जो जिनकी कृपा से समृद्ध बना है, ईर्ष्या से उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है। (१५) जो प्रमुख पुरुष की हत्या करता है। (१६) जो संयमी को पथभ्रष्ट करता है। (१७) जो अपने उपकारी की हत्या करता है। (१८) जो प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करता है। (१९) जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है। (२०) जो न्यायमार्ग की निन्दा करता है। (२१) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है। (२२) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है। (२३) जो अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आपको बहुश्रुत कहता है। (२४) जो तपस्वी न होते हुए भी अपने-आपको तपस्वी कहता है। (२५) जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नहीं करता। (२६) जो आचार्य आदि कुशास्त्र का प्ररूपण करते हैं। (२७) जो आचार्य आदि अपनी प्रशंसा के लिए मंत्रादि का प्रयोग करते हैं। (२८) जो इहलोक और परलोक में भोगोपभोग पाने की अभिलाषा करता है। (२९) जो देवताओं की निन्दा करता है या करवाता है। (३०) जो असर्वज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ कहता है।

(अ) दर्शन-मोह— जैन-दर्शन में 'दर्शन' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है— (१) प्रत्यक्षीकरण, (२) दृष्टिकोण और (३) श्रद्धा। प्रथम

अर्थ का सम्बन्ध दर्शनावरणीय कर्म से है, जबकि दूसरे और तीसरे अर्थ का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। दर्शन-मोह के कारण प्राणी में सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव होता है और वह मिथ्या धारणाओं एवं विचारों का शिकार रहता है, उसकी विवेकबुद्धि असंतुलित होती है। दर्शनमोह तीन प्रकार का है--(१) **मिथ्यात्व मोह**— जिसके कारण प्राणी असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य समझता है। शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ मानना मिथ्यात्व मोह है। (२) **सम्यक्-मिथ्यात्व मोह**— सत्य एवं असत्य तथा शुभ एवं अशुभ के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक और (३) **सम्यक्त्व मोह**— क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि में बाधक सम्यक्त्व मोह है अर्थात् दृष्टिकोण की आंशिक विशुद्धता।

(ब) **चारित्र-मोह**— चारित्र-मोह के कारण प्राणी का आचरण अशुभ होता है। चारित्र-मोहजनित अशुभाचरण २५ प्रकार का है— (१) प्रबलतम क्रोध, (२) प्रबलतम मान, (३) प्रबलतम माया (कपट), (४) प्रबलतम लोभ, (५) अति क्रोध, (६) अति मान, (७) अति माया (कपट), (८) अति लोभ, (९) साधारण क्रोध, (१०) साधारण मान, (११) साधारण माया (कपट) (१२) साधारण लोभ, (१३) अल्प क्रोध, (१४) अल्प मान, (१५) अल्प माया (कपट) और (१६) अल्प लोभ— ये सोलह कषाय हैं। उपर्युक्त कषायों को उत्तेजित करने वाली नौ मनोवृत्तियाँ (उपकषाय) हैं— (१) हास्य, (२) रति (स्नेह, राग), (३) अरति (द्वेष) (४) शोक, (५) भय, (६) जुगप्सा (घृणा), (७) स्त्रीवेद (पुरुष-सहवास की इच्छा), (८) पुरुषवेद (स्त्री-सहवास की इच्छा), (९) नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों के सहवास की इच्छा)।

मोहनीय कर्म विवेकाभाव है और उसी विवेकाभाव के कारण अशुभ की ओर प्रवृत्ति की रुचि हाती है। अन्य परम्पराओं में जो स्थान अविद्या का है, वही स्थान जैन परम्परा में मोहनीय कर्म का है। जिस प्रकार अन्य परम्पराओं में बन्धन का मूल कारण अविद्या है, उसी प्रकार जैन परम्परा में बन्धन का मूल कारण मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ही आध्यात्मिक विकास का आधार है।

५. आयुष्य कर्म

जिस प्रकार बेड़ी स्वाधीनता में बाधक है, उसी प्रकार जो कर्म परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्य कर्म कहते हैं। यह कर्म निश्चय करता है कि आत्मा को किस शरीर में कितनी समयावधि तक रहना है। आयुष्य कर्म चार प्रकार है— (१) नरक आयु, (२) तिर्यंच आयु (वानस्पतिक एवं पशु जीवन) (३) मनुष्य आयु और (४) देव आयु।

आयुष्य-कर्म के बन्ध के कारण— सभी प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध का कारण शील और व्रत से रहित होना माना गया है। फिर भी किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है, उसका निर्देश भी जैन आगमों में उपलब्ध है। स्थानांगसूत्र में प्रत्येक प्रकार के

आयुष्य-कर्म के बन्ध के चार-चार कारण माने गये हैं।

(अ) **नारकीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण**— (१) महारम्भ (भयानक हिंसक कर्म), (२) महापरिग्रह (अत्यधिक संचय वृत्ति), (३) मनुष्य, पशु आदि का वध करना, (४) मांसाहार और शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन।

(ब) **पाशविक जीवन की प्राप्ति के चार कारण**— (१) कपट करना (२) रहस्यपूर्ण कपट करना (३) असत्य भाषण (४) कम ज्यादा तोल-माप करना। कर्म-ग्रन्थ में प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप का प्रकट न करना भी तिर्यंच आयु के बन्ध का कारण माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में माया (कपट) को ही पशुयोनि का कारण बताया है।

(स) **मानव जीवन की प्राप्ति के चार कारण**— (१) सरलता, (२) विनयशीलता, (३) करुणा और (४) अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना। तत्त्वार्थसूत्र में— (१) अल्प आरम्भ, (२) अल्प परिग्रह, (३) स्वभाव की सरलता और (४) स्वभाव की मृदुता को मनुष्य आयु के बन्ध का कारण कहा गया है।

(द) **दैवीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण**— (१) सराग (सकाम) संयम का पालन, (२) संयम का आंशिक पालन, (३) सकाम-तपस्या (बाल-तप) (४) स्वाभाविक रूप में कर्मों के निर्जरित होने से। तत्त्वार्थसूत्र में भी यही कारण माने गये हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच, देशविरत श्रावक, सरागी-साधु, बाल-तपस्वी और इच्छा नहीं होते हुए भी परिस्थिति वश भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए अकाम-निर्जरा करने वाले व्यक्ति देवायु का बन्ध करते हैं।

आकस्मिकमरण— प्राणी अपने जीवनकाल में प्रत्येक क्षण आयु कर्म को भोग रहा है और प्रत्येक क्षण में आयु कर्म के परमाणु भोग के पश्चात् पृथक् होते रहते हैं। जिस समय वर्तमान आयुकर्म के पूर्वबद्ध समस्त परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं उस समय प्राणी को वर्तमान शरीर छोड़ना पड़ता है। वर्तमान शरीर छोड़ने के पूर्व ही नवीन शरीर के आयुकर्म का बन्ध हो जाता है। लेकिन यदि आयुष्य का भोग इस प्रकार नियत है तो आकस्मिकमरण की व्याख्या क्या? इसके प्रत्युत्तर में जैन-विचारकों ने आयुकर्म का भेद दो प्रकार का माना—

(१) क्रमिक, (२) आकस्मिक। क्रमिक भोग में स्वाभाविक रूप से आयु का भोग धीरे-धीरे होता रहता है, जबकि आकस्मिक भोग में किसी कारण के उपस्थित हो जाने पर आयु एक साथ ही भोग ली जाती है। इसे ही आकस्मिकमरण या अकाल मृत्यु कहते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके सात कारण बताये गये हैं— (१) हर्ष-शोक का अतिरेक, (२) विष अथवा शस्त्र का प्रयोग, (३) आहार की अत्यधिकता अथवा सर्वथा अभाव (४) व्याधिजनित तीव्र वेदना, (५) आघात (६) सर्पदंशादि और (७) श्वासनिरोध।

६. नाम कर्म

जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रंगों से अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नाम-कर्म विभिन्न कर्म परमाणुओं से जगत् के

प्राणियों के शरीर की रचना करता है। मनोविज्ञान की भाषा में नाम-कर्म को व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व कह सकते हैं। जैन-दर्शन में व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों को नामकर्म की प्रकृति के रूप में जाना जाता है, जिनकी संख्या १०३ मानी गई है लेकिन विस्तारभय से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। उपर्युक्त सारे वर्गीकरण का संक्षिप्त रूप है— १. शुभनामकर्म (अच्छा व्यक्तित्व) और २. अशुभनामकर्म (बुरा व्यक्तित्व)। प्राणी जगत् में, जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य दिखाई देता है, उसका आधार नामकर्म है।

शुभनाम कर्म के बन्ध के कारण

जैनागमों में अच्छे व्यक्तित्व की उपलब्धि के चार कारण माने गये हैं— १. शरीर की सरलता, २. वाणी की सरलता, ३. मन या विचारों की सरलता, ४. अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना या सामंजस्यपूर्ण जीवन।

शुभनामकर्म का विपाक

उपर्युक्त चार प्रकार के शुभाचरण से प्राप्त शुभ व्यक्तित्व का विपाक १४ प्रकार का माना गया है— (१) अधिकारपूर्ण प्रभावक वाणी (इष्ट-शब्द) (२) सुन्दर सुगठित शरीर (इष्ट-रूप) (३) शरीर से निःसृत होने वाले मलों में भी सुगंधि (इष्ट-गंध) (४) जैवीय-रसों की समुचितता (इष्ट-रस) (५) त्वचा का सुकोमल होना (इष्ट-स्पर्श) (६) अचपल योग्य गति (इष्ट-गति) (७) अंगों का समुचित स्थान पर होना (इष्ट-स्थिति) (८) लावण्य (९) यशःकीर्ति का प्रसार (इष्ट-यशःकीर्ति) (१०) योग्य शारीरिक शक्ति (इष्ट-उत्थान, कर्म, बलवीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम) (११) लोगों को रुचिकर लगे ऐसा स्वर (१२) कान्त स्वर (१३) प्रिय स्वर और (१४) मनोज्ञ स्वर।

अशुभ नाम कर्म के कारण— निम्न चार प्रकार के अशुभाचरण से व्यक्ति (प्राणी) को अशुभ व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है— (१) शरीर की वक्रता, (२) वचन की वक्रता (३) मन की वक्रता और (४) अहंकार एवं मात्सर्य वृत्ति या असामंजस्य पूर्ण जीवन।

अशुभनाम कर्म का विपाक— १. अप्रभावक वाणी (अनिष्ट-शब्द), २. असुन्दर शरीर (अनिष्ट-स्पर्श), ३. शारीरिक मलों का दुर्गन्धयुक्त होना (अनिष्ट-गंध), ४. जैवीयरसों की असमुचितता (अनिष्टरस), ५. अप्रिय स्पर्श, ६. अनिष्ट गति, ७. अंगों का समुचित स्थान पर न होना (अनिष्ट स्थिति), ८. सौन्दर्य का अभाव, ९. अपयश, १०. पुरुषार्थ करने की शक्ति का अभाव, ११. हीन स्वर, १२. दीन स्वर, १३. अप्रिय स्वर और १४. अकान्त स्वर।

७. गोत्र कर्म

जिसके कारण व्यक्ति प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित कुलों में जन्म लेता है, वह गोत्र कर्म है। यह दो प्रकार का माना गया है— १. उच्च गोत्र (प्रतिष्ठित कुल) और २. नीच गोत्र (अप्रतिष्ठित कुल)।

किस प्रकार के आचरण के कारण प्राणी का अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है और किस प्रकार के आचरण से प्राणी का प्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है, इस पर जैनाचार-दर्शन में विचार किया गया है। अहंकारवृत्ति ही इसका प्रमुख कारण मानी गई है।

उच्च-गोत्र एवं नीच-गोत्र के कर्म-बन्ध के कारण— निम्न आठ बातों का अहंकार न करने वाला व्यक्ति भविष्य में प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है— १. जाति, २. कुल, ३. बल (शारीरिक शक्ति), ४. रूप (सौन्दर्य), ५. तपस्या (साधना), ६. ज्ञान (श्रुत), ७. लाभ (उपलब्धियाँ) और ८. स्वामित्व (अधिकार)। इनके विपरीत जो व्यक्ति उपर्युक्त आठ प्रकार का अहंकार करता है, वह नीच कुल में जन्म लेता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार भी अहंकार रहित गुणग्राही दृष्टि वाला, अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वाला तथा भक्त उच्च-गोत्र को प्राप्त करता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला नीच-गोत्र को प्राप्त करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सदगुणों का आच्छादन और असदगुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्र के बन्ध के हेतु हैं। इसके विपरीत पर-प्रशंसा, आत्म-निन्दा, सदगुणों का प्रकाशन, असदगुणों का गोपन और नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता ये उच्च-गोत्र के बन्ध के हेतु हैं।

गोत्र-कर्म का विपाक— विपाक (फल) दृष्टि से विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अहंकार नहीं करता, वह प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर निम्नोक्त आठ क्षमताओं से युक्त होता है— १. निष्कलंक मातृ-पक्ष (जाति), २. प्रतिष्ठित पितृ-पक्ष (कुल), ३. सबल शरीर, ४. सौन्दर्ययुक्त शरीर, ५. उच्च साधना एवं तप-शक्ति, ६. तीव्र बुद्धि एवं विपुलज्ञान राशि पर अधिकार, ७. लाभ एवं विविध उपलब्धियाँ और ८. अधिकार, स्वामित्व एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति। लेकिन अहंकारी व्यक्तित्व उपर्युक्त समग्र क्षमताओं से अथवा इनमें से किन्हीं विशेष क्षमताओं से वंचित रहता है।

८. अन्तराय कर्म

अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुँचाने वाले कारण को अन्तराय कर्म कहते हैं। यह पाँच प्रकार का है—

१. दानान्तराय— दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं किया जा सके,
२. लाभान्तराय— कोई प्राप्ति होने वाली हो लेकिन किसी कारण से उसमें बाधा आ जाना,
३. भोगान्तराय— भोग में बाधा उपस्थित होना जैसे व्यक्ति सम्पन्न हो, भोजनगृह में अच्छा सुस्वादु भोजन भी बना हो लेकिन अस्वस्थता के कारण उसे मात्र खिचड़ी ही खानी पड़े,
४. उपभोगान्तराय— उपभोग की सामग्री के होने पर भी उपभोग करने में असमर्थता,
५. वीर्यान्तराय— शक्ति के होने पर भी पुरुषार्थ में उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। (तत्त्वार्थसूत्र, ८.१४)

जैन नीति-दर्शन के अनुसार जो व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के

दान, लाभ, भोग, उपभोग-शक्ति के उपयोग में बाधक बनता है, वह भी अपनी उपलब्ध सामग्री एवं शक्तियों का समुचित उपयोग नहीं कर पाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी दान देने वाले व्यक्ति को दान प्राप्त करने वाली संस्था के बारे में गलत सूचना देकर या अन्य प्रकार से दान देने से रोक देता है अथवा किसी भोजन करते हुए व्यक्ति को भोजन पर से उठा देता है, तो उसकी उपलब्धियों में भी बाधा उपस्थित होती है अथवा भोग-सामग्री के होने पर भी वह उसके भोग से वंचित रहता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार जिन-पूजा आदि धर्म-कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला और हिंसा में तत्पर व्यक्ति भी अन्तराय कर्म का संचय करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना ही अन्तराय-कर्म के बन्ध का कारण है।

घाती और अघाती कर्म

कर्मों के इस वर्गीकरण में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय— इन चार कर्मों को 'घाती' और नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय— इन चार कर्मों को 'अघाती' माना जाता है। घाती कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति नामक गुणों का आवरण करते हैं। ये कर्म आत्मा की स्वभावदशा को विकृत करते हैं, अतः जीवन-मुक्ति में बाधक होते हैं। इन घाती कर्मों में अविद्या रूप मोहनीय कर्म ही आत्मस्वरूप की आवरण-क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल की दृष्टि से प्रमुख हैं। वस्तुतः मोहकर्म ही एक ऐसा कर्म-संस्कार है, जिसके कारण कर्म-बन्ध का प्रवाह सतत् बना रहता है। मोहनीय कर्म उस बीज के समान है, जिसमें अंकुरण की शक्ति है। जिस प्रकार उगने योग्य बीज हवा, पानी आदि के सहयोग से अपनी परम्परा को बढ़ाता रहता है, उसी प्रकार मोहनीय रूपी कर्म-बीज, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय रूप हवा, पानी आदि के सहयोग से 'कर्म-परम्परा को सतत् बनाये रखता है। मोहनीय कर्म ही जन्म-मरण, संसार या बन्धन का मूल है, शेष घाती कर्म उसके सहयोगी मात्र हैं। इसे कर्मों का सेनापति कहा गया है। जिस प्रकार सेनापति के पराजित होने पर सारी सेना हतप्रभ हो शीघ्र ही पराजित हो जाती है, उसी प्रकार मोह कर्म पर विजय प्राप्त कर लेने पर शेष सारे कर्मों को आसानी से पराजित कर आत्मशुद्धता की उपलब्धि की जा सकती है। जैसे ही मोह नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण का पर्दा हट जाता है, अन्तराय या बाधकता समाप्त हो जाती है और व्यक्ति (आत्मा) जीवन-मुक्त बन जाता है।

अघाती कर्म वे हैं जो आत्मा के स्वभाव दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते। अघाती कर्म भुने हुए बीज के समान हैं, जिनमें नवीन कर्मों की उत्पादन-क्षमता नहीं होती। वे कर्म-परम्परा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ होते हैं और समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं।

सर्वघाती और देशघाती कर्म-प्रकृतियाँ— आत्मा के स्व-लक्षणों का आवरण करने वाले घाती कर्मों की ४५ कर्म-प्रकृतियाँ भी दो प्रकार की

हैं— १. सर्वघाती और २. देशघाती। सर्वघाती कर्म प्रकृति किसी आत्मगुण को पूर्णतया आवरित करती है और देशघाती कर्म-प्रकृति उसके एक अंश को आवरित करती है।

आत्मा के स्वाभाविक सत्यानुभूति नामक गुण को मिथ्यात्व (अशुद्ध दृष्टिकोण) सर्वरूपेण आच्छादित कर देता है। अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) और अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) नामक आत्मा के गुणों का आवरण भी पूर्ण रूप से होता है। पाँचों प्रकार की निद्राएँ भी आत्मा की सहज अनुभूति की क्षमता को पूर्णतया आवरित करती हैं। इसी प्रकार चारों कषायों के पहले तीनों प्रकार, जो कि संख्या में १२ होते हैं, भी पूर्णतया बाधक बनते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का, प्रत्याख्यानी कषाय देशव्रती चारित्र (ग्रहस्थ धर्म) का और अप्रत्याख्यानी कषाय सर्वव्रती चारित्र (मुनिधर्म) का पूर्णतया बाधक बनता है। अतः ये २० प्रकार की कर्मप्रकृतियाँ सर्वघाती कही जाती हैं। शेष ज्ञानावरणीय कर्म की ४, दर्शनावरणीय कर्म की ३, मोहनीय कर्म की १३, अन्तराय कर्म की ५, कुल २५ कर्मप्रकृतियाँ देशघाती कही जाती हैं। सर्वघात का अर्थ मात्र इन गुणों के पूर्ण प्रकटन को रोकना है, न कि इन गुणों का अनस्तित्व। क्योंकि ज्ञानादि गुणों के पूर्ण अभाव की स्थिति में आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व में अन्तर ही नहीं रहेगा। कर्म तो आत्मगुणों के प्रकटन में बाधक तत्त्व हैं, वे आत्मगुणों को विनष्ट नहीं कर सकते। नन्दीसूत्र में तो कहा गया है कि जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को चाहे कितना ही आवरित क्यों न कर लें, फिर भी वह न तो उसकी प्रकाश-क्षमता को नष्ट कर सकता है और न उसके प्रकाश के प्रकटन को पूर्णतया रोक सकता है। उसी प्रकार चाहे कर्म ज्ञानादि आत्मगुणों को कितना ही आवृत क्यों न कर ले, फिर भी उनका एक अंश हमेशा ही अनावृत रहता है।

कर्म बन्धन से मुक्ति

जैन कर्मसिद्धान्त की यह मान्यता है कि प्रत्येक कर्म अपना विपाक या फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है। इस विपाक की अवस्था में यदि आत्मा राग-द्वेष अथवा मोह से अभिभूत होता है, तो वह पुनः नये कर्म का संचय कर लेता है। इस प्रकार यह परम्परा सतत् रूप से चलती रहती है। व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में यह नहीं है कि वह कर्म के विपाक के परिणाम स्वरूप होने वाली अनुभूति से इंकार कर दे। अतः यह एक कठिन समस्या है कि कर्म के बन्धन व विपाक की इस प्रक्रिया से मुक्ति कैसे हो, यदि कर्म के विपाक के फलस्वरूप हमारे अन्दर क्रोधादि कषाय भाव अथवा कामादि भोग भाव उत्पन्न होना ही है तो फिर स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि हम विमुक्ति की दिशा में आगे कैसे बढ़ें? इस हेतु जैन आचार्यों ने दो उपायों का प्रतिपादन किया है-- (१) संवर और (२) निर्जरा। संवर का तात्पर्य है कि विपाक की स्थिति में प्रतिक्रिया से रहित रहकर नवीन कर्मास्रव एवं बन्ध को नहीं होने देना और निर्जरा का तात्पर्य है पूर्व कर्मों के विपाक की समभाव पूर्वक अनुभूति करते हुए उन्हें निर्जरीत कर देना या फिर तप

साधना द्वारा पूर्वबद्ध अनियत विपाकी कर्मों को समय से पूर्व उनके विपाक को प्रदेशोदय के माध्यम से निर्जरित करना।

यह सत्य है कि पूर्वबद्ध कर्मों के विपाकोदय की स्थिति में क्रोधादि आवेग अपनी अभिव्यक्ति के हेतु चेतना के स्तर पर आते हैं, किन्तु यदि आत्मा उस समय अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाकर साक्षीभाव में स्थिर रखे और उन उदय में आ रहे क्रोधादि भावों के प्रति मात्र द्रष्टा भाव रखे, तो वह भावी बन्धन से बचकर पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है और इस प्रकार वह बन्धन से विमुक्ति की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देता है। वस्तुतः विवेक व अप्रमत्तता ऐसे तथ्य हैं जो हमें नवीन बन्धन से बचाकर विमुक्ति की ओर अभिमुख करते हैं। व्यक्ति में जितनी अप्रमत्तता या आत्म चेतनता होगी, उसका विवेक उतना जागृत रहेगा। वह बन्धन से विमुक्ति की दिशा में आगे बढ़ेगा। जैन कर्म सिद्धान्त बताता है कि कर्मों के विपाक के सम्बन्ध में हम विवश या परतन्त्र होते हैं, किन्तु उस विपाक की दशा में भी हममें इतनी स्वतन्त्रता अवश्य होती है कि हम नवीन कर्म परम्परा का संचय करें या न करें, ऐसा निश्चय कर सकते हैं। वस्तुतः कर्म विपाक के सन्दर्भ में हम परतन्त्र होते हैं, किन्तु नवीन कर्म बन्ध के सन्दर्भ में हम आंशिक रूप में स्वतन्त्र हैं। इसी आंशिक स्वतन्त्रता द्वारा हम मुक्ति अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं। जो साधक विपाकोदय के समय साक्षी भाव या ज्ञाता-द्रष्टा भाव में जीवन जीना जानता है, वह निश्चय ही कर्म-विमुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ. सागरमल जैन- जैनकर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२, पृ. ४
२. श्वेताश्वतरोपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर) १/१-२
३. The Philosophical Quarterly, April 1932, P.72.
४. Maxmullar-Three Lecturers on Vedanta Philosophy, P. 165.
५. पं. दलसुखभाई मालवणिया- आत्ममीमांसा (जैन संस्कृति संशोधन मण्डल)
६. रविन्द्रनाथ मिश्रा, जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास (पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-५, १९८५), पृ. ८
७. वही, पृ. ९-१०
८. रागो य दोसो वि य कम्मबीर्यं, उत्तराध्ययनसूत्र ३२/७
९. (अ) समवायांग ५/४ (ब) इसिभासियाई ९/५ (स) तत्त्वार्थसूत्र ८/१
१०. कुन्दकुन्द, समयसार १७१
११. (अ) अट्टविहं कम्मगांथि--इसिभासियाई ३१
(ब) अट्टविहं कम्मरयमलं--इसिभासियाई २३
१२. उत्तराध्ययनसूत्र (सं. मधुकरमुनि), ३३/२-३
१३. वही, ३३/४-१५

१४. अगुंत्तरनिकाय उद्धृत उपाध्याय भरतसिंह, बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ. ४६३
१५. देखें-आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. २५०
१६. देवेन्द्रसूरि, कर्मग्रन्थ प्रथम, कर्मविपाक, गाथा १
१७. पं. सुखलाल संघवी, दर्शन व चिन्तन, पृ. २२५
१८. आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मतसार, कर्मकाण्ड-६
१९. आचार्य विद्यानन्दी, अष्टसहस्री, पृ. ५१, उद्धृत--Tatia Dr. Nathmal Tatia, Studies in Jaina Philosophy (P.V. Rsearch Institute, Varanasi-5, p. 227
२०. कर्मग्रन्थ - प्रथम, कर्म विपाक- भूमिका पं. सुखलाल संघवी, पृ. २४
२१. सागरमल जैन- जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन पृ. १७-१८
२२. (अ) महाभारत : शान्तिपर्व (गीता प्रेस, गोरखपुर) पृ. १२९
(ब) लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, गीतारहस्य, पृ. २६८
२३. आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. २७७
२४. (अ) देखें--उत्तराध्ययनसूत्र--सम्पादक मधुकरमुनि ४/४/१३, २३/१/३०
(ब) भगवतीसूत्र १/२/६४
२५. देखें-- (अ) Nathmal Tatia, Tatia, Studies in Jaina Philosophy (P.V.R.I.), P. 254.
(ब) सागरमल जैन- जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. २४-२७
२६. सागरमल जैन- जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ३५-३६
२७. वही, पृ. ३६-४०
२८. ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत विवरण तत्त्वार्थसूत्र ६ एवं ८, कर्म ग्रन्थ प्रथम कर्मविपाक, पृ. ५४-६१, समवायांग ३०/१ तथा स्थानांग १/४/४/३७३ पर आधारित है।
२९. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), ४/१०७.
३०. स्थानांग, टीका (अभयदेव), १/११-१२
३१. जैनधर्म, मुनिसुशीलकुमार, पृ. ८४
३२. समयसारनाटक, बनारसीदास, उत्थानिका २८
३३. भगवतीसूत्र, ७/१०/१२१
३४. स्थानांगसूत्र स्थान, ९
३५. भगवद्गीता १८/१७
३६. धम्मपद, २४९
३७. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, आद्रकसंवाद २/६
३८. सागरमल जैन, जैनकर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन,
३९. दशवौकलिकसूत्र, ४/९
४०. सूत्रकृतांगसूत्र, २/२/४
४१. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/१४

- | | |
|--|--|
| ४२. तत्त्वार्थसूत्र, १/४ | ५१. वही, १/८/३ |
| ४३. इसिभासियाई (ऋषिभाषित), ९/२ | ५२. आचारांगसूत्र, १/४/२/१ |
| ४४. समयसार (कुन्दकुन्द), १४५-१४६ | ५३. सागरमल जैन- जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ५२-५५ |
| ४५. प्रवचनसार टीका (अमृतचन्द्र), १/७२ की टीका | ५४. वही, पृ. ६१-६७ |
| ४६. समयसार वचनिका, जयचन्द्र छाबड़ा, गाथा १४५-१४६ की वचनिका पृ. २०७ | ५५. वही, पृ. ५७ |
| ४७. भगवद्गीता, ४/१६ | ५६. (अ) वही, पृ. ६७-७९ |
| ४८. सूत्रकृतांग, १/८/२२-२४ | (ब) प्रस्तुत विवरण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ एवं ८, कर्मग्रन्थ प्रथम, (कर्मविपाक) पृ. ५४-६२, समवायांग ३०/१ तथा स्थानांग १/४/४/३७३ पर आधारित है। |
| ४९. भगवद्गीता ४/१६ | |
| ५०. सूत्रकृतांगसूत्र, १/८/१-२ | |

प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

चार्वाक या लोकायत दर्शन का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिन्तन में भौतिकवादी जीवनदृष्टि की उपस्थिति के प्रमाण अति प्राचीन काल से ही उपलब्ध होने लगते हैं। भारत की प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन धारा में उसकी समालोचना की गई है। जैन-धर्म एवं दर्शन के ग्रन्थों में भी इस भौतिकवादी जीवनदृष्टि का प्रतिपादन एवं समीक्षा अति प्राचीन काल से ही मिलने लगती है। जैन धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य में महावीर के युग से लेकर आज तक लगभग २५०० वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में इस विचारधारों की समालोचना होती रही है। इस समग्र विस्तृत चर्चा को प्रस्तुत निबन्ध में समेट पाना सम्भव नहीं है, अतः हम प्राकृत आगम साहित्य तक ही अपनी इस चर्चा को सीमित रखेंगे।

प्राचीनतम प्राकृत आगम साहित्य में मुख्यतया आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समाहित किया जा सकता है। ये सभी ग्रन्थ ई.पू. पाँचवीं शती से लेकर ई०पू० तीसरी शती के बीच निर्मित हुए हैं, ऐसा माना जाता है।^१ इसके अतिरिक्त उपांग साहित्य के एक ग्रन्थ राजप्रश्नीय को भी हमने इस चर्चा में समाहित किया है। इसका कारण यह है कि राजप्रश्नीय का वह भाग जो चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण और समीक्षा करता है एक तो चार्वाक दर्शन की स्थापना एवं समीक्षा-दोनों ही दृष्टि से अति समृद्ध है, दूसरे अतिप्राचीन भी माना जाता है, क्योंकि ठीक यही चर्चा हमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध और राजा 'पयासीय' के बीच होने का उल्लेख मिलता है।^२ जैन परम्परा में इस चर्चा को पाश्चात्य परम्परा के महावीर के समकालीन आचार्य केशीकुमार श्रमण और राजा 'पयासी', बौद्ध त्रिपिटक में बुद्ध और पयासी के बीच सम्पन्न हुआ बताया गया है। यद्यपि कुछ जैन आचार्यों ने पयासी का संस्कृत रूप प्रदेशी मान लिया है किन्तु देववाचक,

सिद्धसेनगणि, मलयगिरि और मुनिचन्द्रसूरि^३ ने राजा प्रसेनजित को ही माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक लगता है। प्रसेनजित को श्वेताम्बिका (सेयविया) नगरी का राजा बताया गया है जो इतिहास-सिद्ध है। उनका सारथि चित्त केशीकुमार को श्रावस्ती से यहाँ केवल इसीलिये लेकर आया था कि राजा की भौतिकवादी जीवन दृष्टि को परिवर्तित किया जा सके। कथावस्तु की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा तार्किकता की दृष्टि से ही हमने इसे भी प्रस्तुत विवेचन में समाहित किया है।

प्रस्तुत विवेचना में मुख्यरूप से चार्वाक दर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद एवं परलोक तथा पुण्य-पाप की अवधारणाओं के उसके द्वारा किये गये खण्डनों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ उनकी इन आगमों में उपलब्ध समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं। इसमें भी ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में भौतिकवादी जीवन दृष्टि का जो प्रस्तुतीकरण है, वह उपर्युक्त विवरण से कुछ विशिष्ट प्रकार का है। उसमें जो दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देसोक्कल, सव्वोक्कल के नाम से भौतिवादियों के पाँच प्रकारों का उल्लेख है^४, वह अन्यत्र किसी भी भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं राजप्रश्नीय में चार्वाक दर्शन की स्थापना और खण्डन दोनों के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे भी महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृत आगमिक-व्याख्या साहित्य में मुख्यतः विशेषावश्यकभाष्य (छठीं शती) के गणधरवाद^५ में लगभग पाँच सौ गाथाओं में भौतिकवादी चार्वाक दर्शन की विभिन्न अवधारणाओं की समीक्षा महावीर और गौतम आदि ११ गणधरों के मध्य हुए वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है, वह भी दार्शनिक दृष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। अन्य आगमिक संस्कृत टीकाओं (१०वीं-११वीं शती) में भी चार्वाक दर्शन